वर्ष ४५] * * * * * [अङ्क ४

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,७५,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर वैशाख, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, अप्रैल १९७१

विषय	पृष्ठ-संख्या
१–'नैक त्रिलोकि री इक बार' [कविता] (श्रीरूपरसिकदेवजी) …	८३३
२–कल्याण …	८३४
३–ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश (पुराने सत्सङ्गसे)	८३५
४–भगवान्‌की महिमा [कविता] (संत श्रीदादूदयालजी) … …	८३७
५–परमार्थकी पगडंडियाँ (नित्यलीलालीन परम श्रद्धेय श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) …	८३८
६–'करौ भजन-उपाव' [कविता] (संत श्रीचरनदासजी) … …	८४२
७–पागलकी झोली (महात्मा श्रीश्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज)	८४३
८–आश्रयके दस सोपान [कविता] (श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी) …	८४५
९–गीताका भक्तियोग (पूज्य स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा की गयी गीताके बारहवें अध्यायकी आनुपूर्वी विस्तृत व्याख्या)	८४६
१०–राधा-नामकी महिमा [कविता] (श्रीहठीजी)	८५१
११–आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ …	८५२
१२–एकान्तका यथार्थ दर्शन (साधुवेषमें एक पथिक) …	८५४
१३–पशुबलि तथा नरबलि देवपूजा नहीं, सर्वोपरि पाप है (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) …	८५६
१४–वृन्दावन-वासके लिये प्रेरणा [कविता] (संत श्रीव्यासदासजी) …	८५७
१५–सुखी दम्पति [कहानी] (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)	८५८
१६–श्यामसे विनय [कविता] (भक्त श्रीरसिकदासजी) … …	८६०
१७–वैष्णव-साधनाके महान् व्याख्याता श्रीरूप गोस्वामी (डा० श्रीसुवालालजी उपाध्याय 'शुकरत्न') … …	८६१
१८–भगवत्प्रार्थनाका स्वरूप एवं आदर्श (पं० श्रीजयकान्तजी झा) …	८६५
१९–सेवा-पथ (श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन) …	८६८
२०–परम धर्म—अहिंसा (ठा० श्रीमानसिंहजी के० एस०) … …	८६९
२१–आखिर हम करते क्या हैं ? (श्रीहरिकिशनदासजी अग्रवाल) …	८७४
२२–वह अनोखा दाता है (श्रीराधेश्यामजी बंका, एम्० ए०) … …	८७६
२३–स्वर्ण-क्षुधा [ऐतिहासिक कहानी] (श्रीरामजी खरे 'कुमुद') … …	८७७
२४–दुःखमें सुख (श्रीरामेश्वरजी टाँटिया) …	८७८
२५–'कल्याण' का आगामी विशेषाङ्क—'श्रीरामाङ्क' [सम्मान्य लेखक महानुभावोंसे सादर प्रार्थना] … …	८८०
२६–'कल्याण' के आगामी अर्थात् जनवरी १९७२ के विशेषाङ्क—'श्रीरामाङ्क'की प्रस्तावित संक्षिप्त विषय-सूची …	८८१
२७–परमार्थ-पत्रावली (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पुराने पत्र)	८८३
२८–सत्सङ्ग-वाटिकाके विखरे सुमन (नित्यलीलालीन श्रीभाईजीके पुराने सत्सङ्गसे चयन किये हुए) … …	८८५
२९–पढ़ो, समझो और करो … …	८८८

चित्र-सूची

१–प्राणिवत्सल श्रीगोपाल	(रेखाचित्र) …	मुख-पृष्ठ
२–वृन्दावनेश्वर एवं वृन्दावनेश्वरी	(तिरंगा) …	८३३

वार्षिक मूल्य भारतमें १०.०० विदेशमें १६.०० (१८ शिलिंग) } जय विराट जय जगतपते । गौरीपति जय रमापते ॥ { साधारण प्रति भारतमें ८० पैसे विदेशमें रु० १.०० (१ पेंस)

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार । सम्पादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर
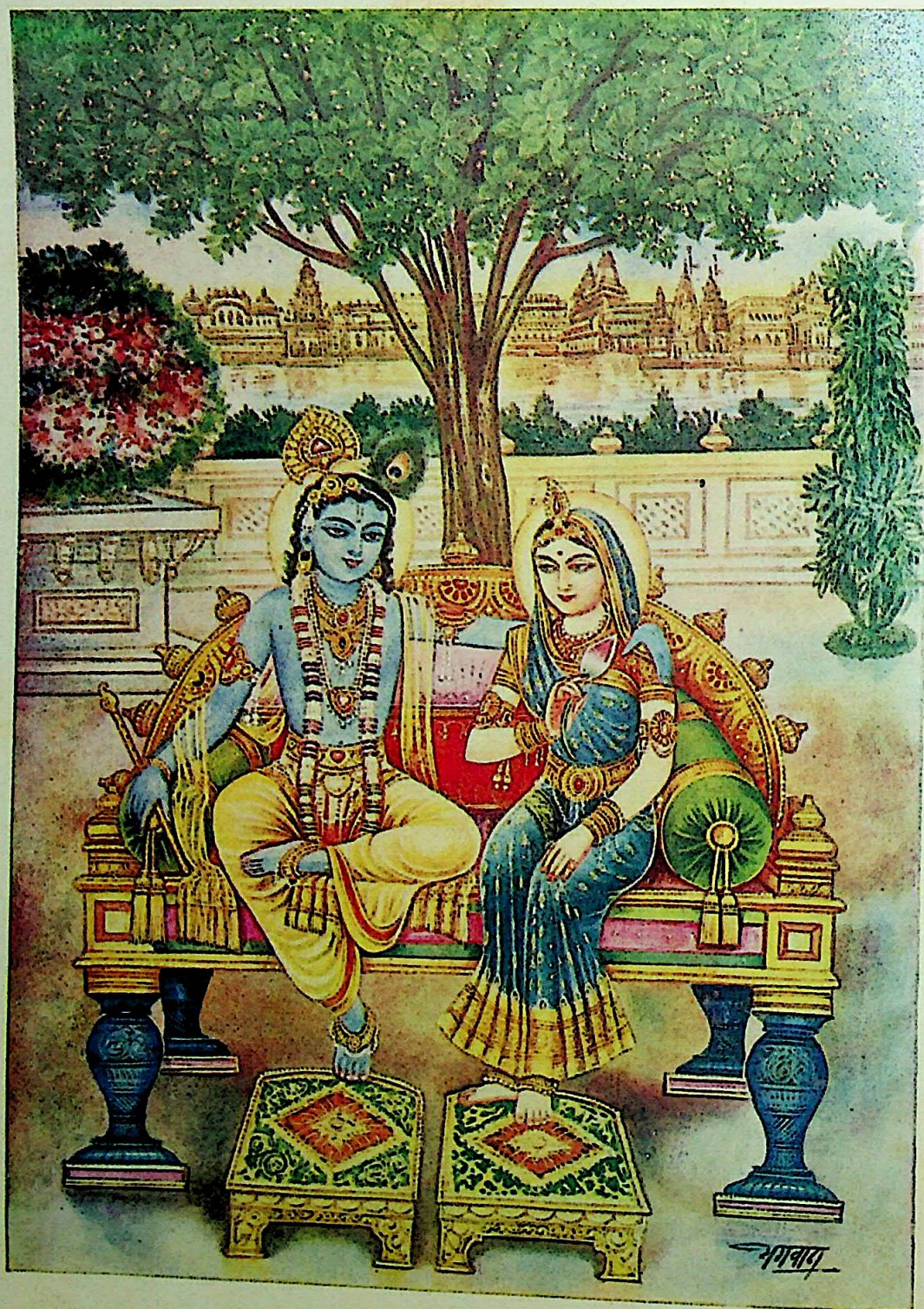
वृन्दावनेश्वर एवं वृन्दावनेश्वरी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण
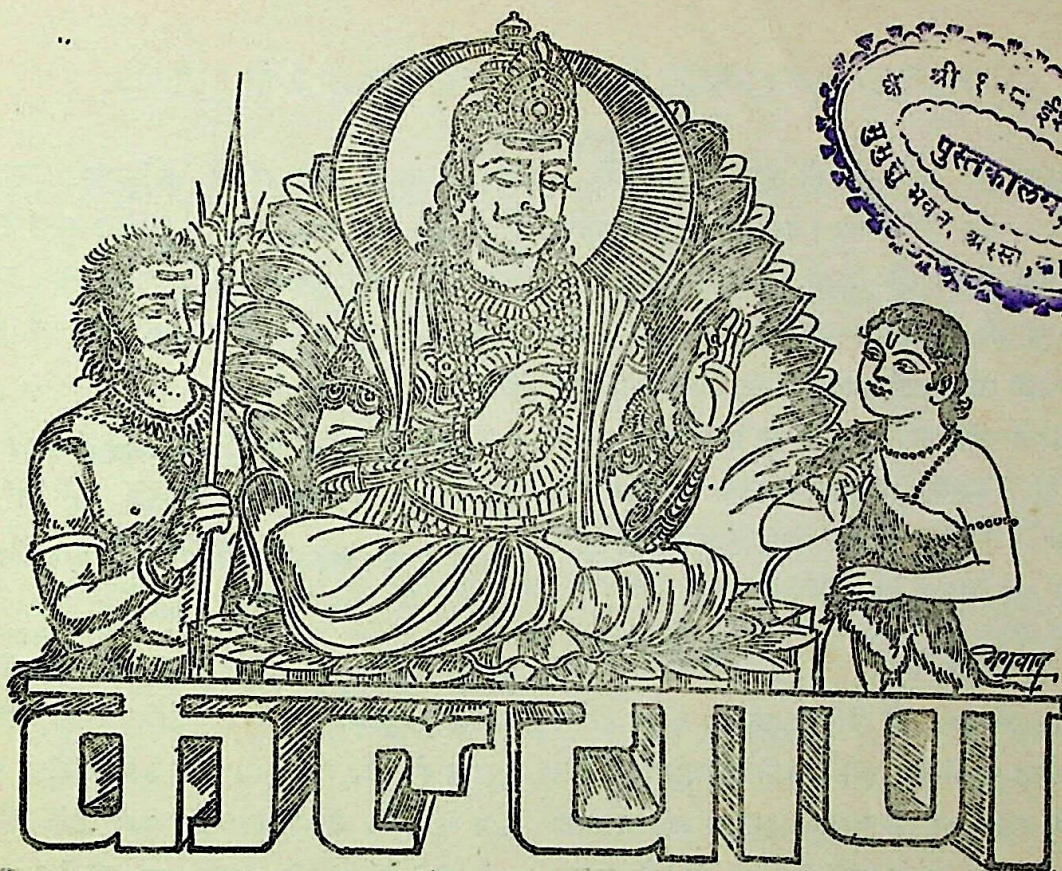
अथश्चोर्ध्वं हरिश्चाग्रे देहेन्द्रियमनोमुखे । इत्येवं संस्मरन् प्राणान् यस्त्यजेत्स हरिर्भवेत् ॥

(अग्निपुराण)

वर्ष ४५ } गोरखपुर, सौर वैशाख, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, अप्रैल १९७१ { संख्या ४
पूर्ण संख्या ५३३

'नैक बिलोकि री इक बार'

नैक बिलोकि री इक बार ।
जो तूँ प्रीति करन की गाहक मोहन हैं रिझवार ॥
महारूप की रासि नागरी, नागर नंदकुमार ।
हाव-भाव-लीला ललचौहीं लालन नवल बिहार ॥
मोहि भरोसौ स्यामसुँदर कौ करि राख्यौ निरधार ।
नैक एक पल जो अभिलाषैं रूपरसिक बलिहार ॥

—श्रीरूपरसिकदेवजी

शरणागत भक्तमें दो बातें अपने-आप आती हैं—निर्भयता और निश्चिन्तता। हम किसी सर्वसमर्थके शरणागत हो गये और उसने हमें अपना लिया, इसके बाद भी यदि हम चिन्ता करते हैं, भय करते हैं तो शरण्यकी शक्तिमत्तामें हमारा विश्वास नहीं है। हमारे मनमें यह संदेह बना रहता है कि कदाचित् वे हमारा भय दूर न कर सकें, वे हमारी चिन्ताके कारणोंको मिटा न सकें। अतएव भगवान्‌के शरणागत होनेके साथ हमें निर्भय एवं निश्चिन्त होना ही चाहिये।

शरणागतिमें प्रथम वस्तु है—विश्वास। बिना विश्वास शरणागति हो ही नहीं सकती। विश्वास होनेपर शरणागत भक्तमें चार चीजें अनिवार्यरूपसे आती हैं। पहली बात—वह भगवान्‌के अनुकूल आचरण करता है। शरणागत भक्तके मनमें आता है कि 'जो भगवान् इतने बड़े, इतने ऊँचे, इतने महान् हैं, उन्होंने मुझ-जैसे तुच्छ, नगण्य, पामर, नीचको अपनाया है—यह उनकी कितनी उदारता है। ऐसे उदारके प्रति मेरा कर्तव्य होता है कि मैं उनके अनुकूल आचरण करूँ।' दूसरे—भगवत्स्मृति उसका स्वभाव बन जाता है। उसके मनमें आता है—'जब भगवान्‌ने कृपा करके सारी जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली, तब उन्हें भूलकर किसका स्मरण करूँ?' तीसरे—वह भगवान्‌से कुछ माँगता नहीं। उसके मनमें आता है कि 'जब भगवान् स्वयं सब कुछ करनेको तैयार हैं और जहाँतक मेरी तुच्छ बुद्धि जाती है, उससे भी परे वे कर रहे हैं, तब उनसे क्या माँगा जाय? वास्तवमें उनसे माँगना अपने-आपको ठगाना है।' चौथे—वह सदा निर्भय एवं निश्चिन्त रहता है। सारी चिन्ता, सारी सँभाल जब भगवान्‌ने अपने ऊपर ले ली, तब वह क्यों चिन्तित हो तथा क्यों भय करे?

कोई कह सकता है—'माना भगवान् शरणागत भक्तकी सँभाल करते हैं; पर वे किसीके द्वारा ही तो करवाते हैं, स्वयं थोड़े ही करने आते हैं?' ऐसा मानना वास्तविक शरणागति नहीं है। शरणागत भक्तका तो यह दृढ़ विश्वास होता है कि स्वयं भगवान् सब काम करते हैं। पुराण, महाभारत आदिमें अनेकों कथाएँ उपलब्ध होती हैं, जहाँ भगवान्‌ने स्वयं प्रकट होकर सब काम किये हैं। जो भगवान् उस समय अपने भक्तोंके काम करते थे, क्या वे भगवान् आज नहीं हैं? उनमें कुछ परिवर्तन आ गया है? नहीं, कदापि नहीं। भगवान् हैं, न उनकी भक्तवत्सलतामें किसी प्रकारकी कमी आयी है और न उनकी शक्ति ही सीमित हुई है। कमी हमारे विश्वासमें है। जहाँ हमारा विश्वास सच्चा हुआ कि भगवान् आज भी प्रकट होकर हमारी सारी सँभाल करते हुए दिखायी देंगे। वस्तुतः शरणागतिकी मूल भित्ति विश्वास है। हम भगवान्‌के शरणागत हुए कि नहीं, इसकी जाँचके लिये उपर्युक्त चार कसौटियाँ हैं। अपने जीवनको इन चार कसौटियोंपर हम परखते जायँ और भगवान्‌के शरणागत होकर जीवनको सफल बनायें।

ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

[पुराने सत्सङ्गसे]

अपना जो कुछ है, उसे मन-ही-मन 'परार्थ' कर दें।

सब कुछ भगवान्‌के अर्पण कर दे और प्रत्येक कार्य भगवान्‌को पूछकर करे। भगवान् सबके हृदयमें नित्य विराजित हैं—'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः' (गीता १५ । १५)। अपनेको भगवान्‌का प्रतिनिधि मानकर अपने हृदयमें स्थित भगवान्‌से पूछ-पूछकर सब काम करे। भाव सच्चा होनेसे हृदयमें जो प्रेरणा होगी, वह भगवत्प्रेरणा ही होगी।

व्यवहारमें लोभ, विषमता, झूठ एवं कपट—इन चारका त्याग कर दे तो वह व्यवहार ही मुक्तिको देनेवाला हो जाता है। एक लोभका ही त्याग कर दे तो सब सुधार हो जाय। अपनी नौकरीसे या मकान-भाड़ेसे या थोड़ी-बहुत पूँजी हो तो उसके व्याजसे ही आजीविका चल सकती है।

लोकसेवाके लिये व्यापार करे। अपना मूलधन बना रहे, बाकी उन रुपयोंके हेर-फेरसे लोगोंकी जो सेवा हो, करनी चाहिये। अपने मूलधनकी रक्षा करते हुए कम-से-कम नफेमें माल बेचे। बराबर यह विवेक बना रहे कि रुपया भगवान्‌का, काम भगवान्‌का और हम भगवान्‌के। 'धर्मार्थ' किये हुए पैसोंकी भाँति अपनी पूँजीको समझे। जिस प्रकार धर्मार्थ की हुई पूँजीको काममें लेनेमें ग्लानि होती है, वैसे ही अपनी पूँजीको अपने लिये खर्च करनेमें ग्लानि हो, अर्थात् अनिवार्य आवश्यकताभरके लिये उसका उपयोग अपने लिये हो। इससे व्यवहारमें कष्ट होगा, पर इस साधनसे मुक्ति निश्चित है। निर्धन-से-निर्धन व्यक्ति इस साधनको कर सकता है। जिसके पास जो पूँजी हो—चाहे वह एक पैसा हो, चाहे वह दस करोड़ रुपये, उसको 'धर्मार्थ' की पूँजीकी भाँति मानकर अपने लिये उसका उपयोग करे। अपना जो कुछ हो, उसे मन-ही-मन 'परार्थ' कर दे।

संसारकी सेवा दानसे नहीं, क्रय-विक्रयरूप व्यवहार-से करे; अर्थात् क्रय-विक्रयमें पूर्ण सच्चाई बरतते हुए कम-से-कम लाभकी ओर दृष्टि रक्खे। यह बड़े त्यागका काम है। अपना घर छोड़नेसे भी सैकड़ोंगुना इसमें त्याग है। क्रय-विक्रयकी सब झंझटें करते हुए उसमें कम-से-कम लाभ लेकर अपना काम चलाना बड़ा ही कठिन है।

भगवान्‌ने हमें विवेक दिया है, हमें उसका उपयोग करना चाहिये।

हमने मनुष्ययोनिमें जन्म लिया है, अतएव मनुष्योचित ही हमारा प्रयत्न होना चाहिये। पर हम अपने प्रयत्नकी ओर देखें तो गड़बड़ी मालूम होती है। मनुष्यका क्या कर्तव्य है, यह भगवान्‌ने श्रीरामचरितमानस-में बतलाया है—'नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो—यह मनुष्यका शरीर भवसागरसे तारनेके लिये जहाज है'। अर्थात् मानव-जीवन भगवत्प्राप्तिके लिये प्राप्त हुआ है, विषयभोगोंके सेवनके लिये नहीं। गीतामें भगवान्‌ने बतलाया है कि 'मानव-शरीरको पाकर भगवत्प्राप्तिरूप अपने लक्ष्यतक पहुँचनेके लिये क्या करना चाहिये, क्या नहीं, इसके लिये शास्त्र ही प्रमाण हैं'—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
(गीता १६ । २४)

अतएव भगवान्‌की आज्ञा मानकर हमें शास्त्रके आदेशानुसार जीवन व्यतीत करना चाहिये। कोई यदि कहे कि 'शास्त्र समझमें नहीं आता' तो इसका उत्तर यह है कि 'जहाँ शास्त्र समझमें न आये, वहाँ शास्त्रके ज्ञाता, शास्त्रके अनुसार आचरण करनेवाले

पुरुषको खोजना चाहिये ।' यदि संयोगवश इस प्रकारके व्यक्ति न मिलें तो भगवान्‌ने हमें विवेक दिया है, हमें उसका उपयोग करना चाहिये । हमें निरपेक्ष बुद्धिसे विचार करना चाहिये कि कौन कर्म हमारे लिये कर्तव्य है, कौन अकर्तव्य है । यदि हम ऐसा करेंगे तो हमें सही कर्तव्यका बोध अवश्य हो जायगा । उदाहरणके लिये लोकप्रसिद्ध है—'सत्य बोलना धर्म है'; पर दूसरा कहता है कि 'सत्य बोलनेसे हानि है' । यदि हम निरपेक्ष होकर अपनी बुद्धिसे विचार करें कि 'सत्य बोलना उत्तम है या झूठ बोलना ?' तो हमें यही निर्णय मिलेगा कि 'सत्य बोलना उत्तम है' । इसी प्रकार यदि हम बुद्धिसे निर्णय चाहें कि—'व्यभिचार अच्छा है कि संयम ?', 'चोरी अच्छी है या अपने हककी कमाई ?', 'हिंसा अच्छी है कि दया ?' तो हमें अपनी बुद्धिसे यह स्पष्ट उत्तर मिलेगा—'संयम', 'हककी कमाई खाना' तथा 'दया' श्रेष्ठ हैं । इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारी आत्मा, हमारा विवेक हमें अपने कर्तव्यका ज्ञान करानेको प्रस्तुत हैं ! कमी इस बातकी है कि हम निरपेक्षभावसे इनसे निर्णय चाहते नहीं और जो निर्णय ये देते हैं, उसका पालन नहीं करते ।

लोकसेवाके साथ भजन आवश्यक है ।

चित्त भजनसे हटे ही नहीं, ऐसी वृत्ति हो जाय तो कोई हर्ज नहीं; किंतु दुःख समझकर या झंझट मानकर जो लोग सेवाके काम या कर्तव्य-कर्मको भजनका बहाना लेकर छोड़ देते हैं, वे आगे चलकर प्रमादी हो जाते हैं । जो थोड़ी देर भजन करके बाकी समयमें लोकसेवाका काम करते हैं, उनके द्वारा की हुई सेवा बहुमूल्य हुआ करती है; क्योंकि बिना भजनके केवल लोकसेवा करनेवालेके भाव उच्च नहीं रह सकते । इसलिये कुछ देर भजन करना बहुत ही आवश्यक है ।

ईश्वर-सेवा समझकर भजन करते हुए जो लोकसेवा की जाती है, वह तो ईश्वर-सेवा ही है । ऐसा भाव न हो पाये तो कर्तव्यकर्म समझकर भगवत्प्रीत्यर्थ यदि सेवा हो तो वह भी उत्तम है; किंतु जहाँ भजनविहीन केवल दयावश लोकसेवा की जाती है, वहाँ यह भाव आ जाना स्वाभाविक है कि 'मैं इन लोगोंपर उपकार करता हूँ, इनपर एहसान करता हूँ ।'

भजन एवं सेवाके सम्बन्धमें ये चार बातें ध्यानमें रखनी चाहिये—

(१) सर्वोत्तम बात यह है कि भगवान्‌का भजन स्वाभाविक हो, निरन्तर हो; भजनको छोड़कर किसी काममें प्रवृत्ति हो ही नहीं ।

(२) उससे जरा-सी नीची कोटि यह है कि भजन करता हुआ ही लोकसेवाके कार्य निष्कामभावसे करे ।

(३) उससे भी नीची कोटि यह है कि कुछ देर भजन करे और कुछ देर लोकसेवाका काम करे ।

(४) केवल लोकसेवाके कार्यमें ही लगा रहे । परंतु बिना भजनके केवल लोकसेवा करनेपर आगे चलकर भावपरिवर्तन होनेसे पतन होना सहज है ।

इन चारोंमें प्रधान भगवद्भजन है । यदि भजन नहीं होगा तो जीवन ही व्यर्थ है, उसमें अच्छे भाव ठहर नहीं सकते ।

कर्मोंका ऐसा बोझ कभी अपने ऊपर न लें कि भजन करनेका समय ही न मिले ।

एक व्यक्ति केवल भजन करता है, दूसरा केवल लोकसेवा करता है और तीसरा कुछ देर भजन करके अधिक समय लोकसेवाका कार्य करता है । इन तीनोंमें उत्तम केवल भजन करनेवाला है; क्योंकि वह सुरक्षित है, उसके पतनका डर नहीं है । केवल भजन ही एक ऐसी क्रिया है कि भजन करते हुए यदि मनुष्यकी मृत्यु भी हो जाय तो डर नहीं है । जहाँ भजनमें गौणबुद्धि है और कर्ममें मुख्यबुद्धि, वहाँ कर्ममें आसक्ति होनेपर भजनके छूट जाने और मनुष्यके गिरनेकी आशङ्का है; किंतु भजनमें यह बात नहीं है । कर्मोंमें अधिक समय लगानेसे गिरनेकी सम्भावना

ज्यादा है। भजन करनेवालेके गिरनेकी सम्भावना नहीं है। जो भजन करनेवाले व्यक्ति गिरते देखे जाते हैं, वे वास्तवमें भजन करते ही नहीं; उनका ऊपरी—दिखावटी भाव भजन करनेका होता है। यदि वास्तवमें भजन किया जाय तो भजन ही एक ऐसी वस्तु है कि वह सब कुछ कर सकेगा। वास्तवमें मानवके लिये भजनके सिवा कुछ अन्य काम करनेकी आवश्यकता नहीं है। जिनका भजनमें मन न लगे, वे दिनभर भगवत्सेवाकी भावनासे अष्टयाम पूजामें ही लगे रहें। श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजद्वारा प्रतिपादित भगवान्की अष्टयाम-सेवाकी विधि बहुत ही सुन्दर है। जिनसे निरन्तर भजन न हो सके, उनको उचित है कि भजनके साथ-साथ इस प्रकार समय-विभाग कर लें। गृहस्थके लिये छः घंटा भजन, छः घंटा आजीविकाके कर्म, छः घंटा निद्रा एवं छः घंटा स्वास्थ्य-सम्बन्धी तथा लोक-सम्बन्धी कर्म करनेका विधान है। भजन करते समय यदि कोई लौकिक हानि हो जाय तो चिन्ता न करे; पर यदि चिन्ता होती हो तो भजनके बीचमें उठकर उस लौकिक हानिको न होने दे। हम जिस वर्ण एवं आश्रममें हैं, उसके कर्तव्यकर्म करनेके लिये हम बाध्य हैं; किंतु भगवत्प्रीत्यर्थ भगवत्-आज्ञा समझकर उन कर्तव्यकर्मोंको करें। कर्मोंका ऐसा बोझ कभी अपने ऊपर न लें कि भजन करनेका समय ही न मिले। अतएव अपने नित्यप्रतिके समयका ऊपर लिखे अनुसार विभाग कर लें, जिससे भजनके साथ-साथ कर्तव्यकर्म एवं सेवाकार्य भी होते रहें।

भगवान्की महिमा

घर बन माहीं सुख नहीं, सुख है साईं पास।
'दादू' ता सूँ मन मिल्या, इन सूँ भया उदास॥
सोइ हमारा साँइयाँ, जे सब का पूरणहार।
'दादू' जीवण-मरण का, जाके हाथ बिचार॥
'दादू' जिन पहुँचाया प्राण कूँ, उदर उर्धमुख पीर।
जठर-अगनि में राखिया, कोमल काया सरीर॥
धनि-धनि साहिब ! तू बड़ा, कौन अनूपम रीति।
सकल लोक सिर साइयाँ, ह्वै करि रह्या अतीत॥
'दादू' हूँ बलिहारी सुरत की, सब की करे सँभाल।
कीड़ी-कुंजर पलक में करता है प्रतिपाल॥
मीरा मुझ सूँ मिहरि करि, सिर पर दीया हाथ।
'दादू' कलिजुग क्या करे, साईं मेरा साथ॥
इक लख चंदा आणि घर, सूरज कोटि मिलाइ।
'दादू' गुरु गोविंद बिन तो भी तिमिर न जाइ॥

—संत दादूदयालजी

परमार्थकी पगडंडियाँ

(नित्यलीलालीन परम श्रद्धेय श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

नित्य-निरन्तर प्रभुकी मधुरातिमधुर स्मृति बनी रहनी चाहिये तथा उनकी प्रत्येक इच्छाकी पूर्तिमें अत्यन्त सुखका अनुभव करना चाहिये। अपना सब कुछ उनके अर्पण करके निश्चिन्त हो जाना चाहिये। अर्पण करनेका अभिमान भी न रहे। 'वे नित्य स्वामी हैं, मैं उनका हूँ'—यही भाव रहना चाहिये। घरके सारे काम तथा घरवालोंकी निर्दोष आज्ञाका पालन भी प्रभु-प्रीत्यर्थ होना चाहिये। अपने आत्माका सम्बन्ध प्रभुसे ही रहे। जगत्की कोई भी परिस्थिति हमारे जीवनपर अपना प्रभाव न डाल सके। एक प्रभुकी विस्मृतिके सिवा अन्य किसी भी अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितिमें हमारे मनमें क्षोभ न हो। प्रभुकी मधुर स्मृतिमें मन सदा-सर्वदा परमानन्दका अनुभव करता रहे। जगत्का कोई भी मानापमान, कोई भी लाभ-हानि, किसी प्रकार भी हमारे परमानन्दको क्षणभरके लिये भी हटा या घटा न सके। सदा हृदय आनन्द-सुधा-तरंगोंसे लहराता रहे और उसके बिंदुकण बिखर-बिखरकर जगत्के अशान्त तथा प्रज्वलनशील हृदयोंको सुख-सिन्धु-सुधाका स्वाद-संकेत देते रहें।

× × × ×

जो भगवान्का हो गया, उसके पीछे न तो राग-द्वेषरूपी चोर रहते हैं; न घर ही जेलखाना रहता है और न मोहकी बेड़ियाँ ही पड़ी रहती हैं। फिर तो वह राग-द्वेषसे रहित होकर घररूपी भगवान्के मन्दिरमें रहता है और अपने प्रेमकी रज्जुसे भगवान्को बाँधे रखता है। इसलिये सर्वात्मना उनका होकर अपनेको उनकी मर्जीपर बिना किसी शर्तके छोड़ देना चाहिये और पद-पदमें तथा पल-पलमें उनके परमप्रेम-सुधाका आस्वादन करते हुए सदा परम प्रसन्न, परम प्रफुल्लित और परम उल्लासमय रहना चाहिये। जगत्की कोई भी स्थिति, कोई भी प्राणी, कोई भी वस्तु हमारे इस प्रेमानन्दको कभी भी जरा भी घटा न सके। हमारा आनन्द तो उत्तरोत्तर बढ़ता रहे। प्रेम प्रतिक्षण बढ़नेवाला होता है। इससे आनन्द भी स्वाभाविक बढ़ेगा ही।

× × × ×

तुम इतने उदास क्यों रहते हो ? भगवान्को नित्य अपने पास क्यों नहीं समझते ? वे सदा-सर्वदा तुम्हारे पास ही हैं, एक क्षणके लिये भी अलग नहीं होते—इस बातपर विश्वास करो; फिर अनुभव भी करने लगोगे। शरीरपर घरवालोंका अधिकार है। वे उसे जहाँ रखना चाहें, वहीं सुख-पूर्वक रहने दो। मन तो भगवान्का है। उसमें निरन्तर भगवान्को बसाये रक्खो। उनकी मधुर स्मृतिसे, उनकी मधुर मनोहर झाँकीसे हृदयको सदा भरा रक्खो। तुम्हारे इस हृदयके धनको कोई छीन नहीं सकता। वाणीसे सदा भगवान्के नामको मन-ही-मन गुनगुनाते रहो। बस, सब ठीक है। तुम्हारे मनमें यह निश्चय क्यों नहीं होता कि श्रीभगवान्की तुमपर अनन्त कृपा है और वे सदा-सर्वदा तुम्हारे पास ही रहते हैं ?

> यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
> तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ (गीता ६ । ३०)

बस, निरन्तर उन्हें देख-देखकर आनन्दमुग्ध रहा करो। ऐसा समझो, तुम्हारे लिये शोक-दुःख-विषाद बना ही नहीं है। सचमुच भगवान्की कृपापर और उनके मङ्गल-विधानपर विश्वास

करनेवालेके लिये यह सब है ही नहीं। नित्य प्रसन्न रहा करो। उनका होकर फिर अप्रसन्नता—उदासी कैसी? वहाँ तो नित्य आनन्द है, नित्य उत्सव है, नित्य उल्लास है, नित्य विलास है, नित्य सौख्य है। समुद्र लहरा रहा है आनन्द-प्रेम-सुधाका; उसमें डूबे रहो और मस्त रहो। भगवान्‌ने कहा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वाल्मीकिरामा० लंका० १८। ३३)

"जो एक बार भी शरण होकर कह देता है—'प्रभो! मैं तेरा हूँ,' उसको सबसे निर्भय कर देता हूँ—यह मेरा व्रत है।" 'वे हमारे, हम उनके—फिर रोनेकी बात ही कहाँ है।' 'तुम उनके हो, वे तुम्हारे हैं'—यह विश्वास करो और उनका परम मधुर स्मरण करते हुए आनन्द-निमग्न बने रहो।

शान्ति बाहर कहाँ है; शान्ति तुम्हारे अंदर है, सदा है। बस, यह विश्वास कर लो कि 'भगवान् मेरे सुहृद् हैं', शान्ति मिल जायगी। तुम बाहरके हल्ले-गुल्लेसे अशान्त क्यों होते हो? तुम अपने भगवान्‌की स्मृतिमें निरन्तर डूबे रहो। भवरोग फिर तुम्हारे पास कहाँसे रहेगा? भवसागरमें तो वही डूबा रहता है, जो भगवान्‌की स्मृतिके पवित्र मधुर सागरमें नहीं डूब जाता। तुम अभी पूरे नहीं डूब पाये हो तो भगवान्‌की कृपापर, उनके सौहार्दपर विश्वास करके प्रार्थना करो। उनकी कृपा तुम्हें उनकी मधुर स्मृतिमें तल्लीन कर देगी। तुम उनपर विश्वास करो—जबर्दस्ती करो। तुम पराधीन हो, सो ठीक है; हमें सदा ही भगवान्‌के पराधीन रहना चाहिये। इसकी चिन्ता क्यों करनी चाहिये।

× × × ×

भगवान्‌की तुमपर बड़ी कृपा है तथा उनकी कृपासे सब कुछ हो सकता है—असम्भव भी सम्भव हो सकता है। तुम उस महती कृपापर विश्वास कर लो, तुम सचमुच प्रसन्न हो जाओगे। तुम विश्वास करते भी हो, पर बीच-बीचमें संदेह कर बैठते हो। इस दुविधाको छोड़कर एक निश्चयपर अटल हो जाओ। तुमपर भगवान्‌की इतनी कृपा है कि उसका कहीं अन्त ही नहीं है।

× × × ×

मैं, तुम—सभी श्रीभगवान्‌के चरण-प्रान्तमें रहें—उन्हींके चरण-तीर्थमें नहाया करें, प्रभुके चरण-कमल सदा हमारे हृदयमें विराजमान रहें तथा हमारा-अपना उनके चरण-कमलोंको छोड़कर और कुछ रहे ही नहीं—इसीके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये। मेरे हाथमें होता या मेरी कृपासे कुछ हो सकता तो फिर वह कृपा किस काम आती; मैं तो उस कृपाको बड़ी उदारताके साथ लुटा देता। पर ऐसी बात नहीं। विघ्नोंसे क्यों डरना चाहिये, विघ्न तो प्रभुके भेजे हुए ही आते हैं। संसारकी तमाम प्रतिकूलताको अपने भगवान्‌की मर्जी समझकर अनुकूल बना लो, अनुकूलताको मत खोजो। सदा, सब अवस्थाओंमें प्रभु-कृपापर विश्वास करके अनुकूलताका अनुभव करो और प्रसन्न रहो। चित्तमें सदा भगवान्‌का स्मरण करते हुए परम शान्ति और सुखका अनुभव करो।

× × × ×

नियमका भजन बनता है तो प्रेमका भी बनना सम्भव है। ताप तथा व्याकुलता उत्पन्न होनेपर तो प्रेमका भजन स्वाभाविक ही बनने लगता है। नियमके भजनसे अन्तःकरण पवित्र होनेपर

भगवान्‌के लिये ताप तथा व्याकुलता पैदा हो जायगी। इसके जल्दी होनेके लिये कातरभावसे भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये। चाह उत्पन्न होनेमें भगवान्‌की कृपा बड़ी सहायक होती है। सबसे बड़ी बाधा तो है—संसारके भोग-पदार्थोंमें हमारी आसक्ति बनी है; उनमें सुखकी धारणा दृढ़ हो रही है। इसीसे इनके वियोग या वियोगकी आशङ्कामें तो दुःख, ताप, व्याकुलता होती है, पर भगवान्‌के लिये नहीं होती। भगवान्‌के भजन तथा भगवत्कृपासे ही यह भोग-सुखकी धारणा नष्ट होगी। भजन करते ही रहना चाहिये—चाहे जैसे भी हो। भजनमें सदा असंतोष रहना चाहिये।

× × × ×

सांसारिक विघ्नोंका अवसान न हो, विघ्न-पर-विघ्न आते रहें तो उसमें भी प्रभुकी मङ्गलमयी कृपाके दर्शन करो। यह समझो कि मेरी सारी संसारासक्तिका नाश करनेके लिये ही प्रभुकी महती कृपा विघ्नमयी भीषण मूर्ति धरकर पधारी है। प्रभु अब मेरी सारी आशा-आसक्ति और कामना-वासनाका शीघ्र ही सर्वथा नाश करना चाहते हैं। अतः अब तो और भी जोरसे उनका भजन-स्मरण करना है। बस, उनके मङ्गल-विधानमें सर्वथा और सदैव विश्वास करो और उनकी भेजी हुई प्रत्येक परिस्थितिसे लाभ उठाओ। यह परम सत्य है कि वे प्रत्येक परिस्थितिको हमारे लाभके लिये ही भेजते हैं। परिस्थिति वैसे ही अलग-अलग हो सकती है, जैसे निपुण वैद्यका विभिन्न प्रकारके रोगियोंके लिये विभिन्न प्रकारकी चिकित्साका चुनाव और प्रयोग। कहीं मीठी दवा, भर पेट भोजन और आराम मिलता है तो कहीं कड़वे भोजन, कड़वी दवा; कहीं अङ्गच्छेदन तो कहीं लंबे उपवासकी व्यवस्था की जाती है। पर दोनों ही स्थितियोंमें विधान होता है रोग-नाशके लिये। इसी प्रकार भगवान्‌के प्रत्येक विधानको मङ्गलमय समझकर सादर ग्रहण करो और हर परिस्थितिमें कृतज्ञतापूर्वक उनका स्मरण करते रहो।

यह कभी मत समझो कि भगवान्‌के घर, भगवान्‌के हृदयमें हमारे लिये जगह नहीं है। हमको तो वे अपने हृदयमें ही रखते हैं और वे सदा हमारे हृदयमें रहते हैं, पर सहसा प्रत्यक्ष नहीं होते। इसमें भी उनका कोई मङ्गलमय रहस्य ही है। अतएव सदा, सर्वप्रकारसे उल्लसित और प्रफुल्लित हृदयसे उनका मङ्गल-स्मरण करते रहो। समर्पण तो वे अपनी चीजका आप ही करा लेंगे, हमारी ओरसे समर्पणकी तैयारी होनी चाहिये। मनुष्यका कभी भी भरोसा नहीं करना चाहिये। क्षणभङ्गुर प्राणीमें क्या सामर्थ्य है? यह तो सब श्रीभगवान्‌की महिमा है, जो नित्य हैं, सत्य हैं, सनातन हैं, अज हैं, अविनाशी हैं, सर्वशक्तिमान् हैं, परम सुहृद् हैं।

× × × ×

भगवान्‌की कृपापर अटल और अडिग विश्वास बना रहे—ऐसी तुम्हारी चाह बहुत उत्तम है। भगवान् हमारी प्रत्येक चाहको जानते हैं और विश्वास रक्खो—वे सच्ची चाहको जरूर पूरा भी करते हैं।

भगवान्‌का तो स्वभाव ही दीनहितकारी है। वे सदा ही दीन-हीन-मलिन-पामरजनोंपर सहज-प्रीति करते आये हैं—

बिरद-हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति। (तुलसी—विनयपत्रिका)

तुम क्यों मानते हो कि तुमपर भगवान्‌की अत्यन्त प्रीति और असीम कृपा नहीं है? तुम

निश्चय मान लो कि तुमपर भगवान्‌की अत्यन्त प्रीति और असीम कृपा है । वह कृपा तुम्हें दीखती नहीं, इससे क्या हुआ ? भूख-प्यास आँखसे दीखती हैं क्या ? मनके हर्ष-विषाद आँखोंसे दीखते हैं क्या ? तुम गहराईसे विचार करो—यदि तुम्हारे मनमें अडिग और अटल विश्वासकी चाह होती है, तुम निरन्तर उनके स्मरणमें डूबे रहना चाहते हो, तुम सर्वदा प्रभुको अपने हृदयमें बसाना चाहते हो, स्वयं उनके हृदयमें बसना चाहते हो, तुमको उनकी चर्चासे रहित बातें अच्छी नहीं लगतीं, तुम्हें उनकी मधुर लीला-चर्चा बिना चैन नहीं पड़ता, तुम सदा-सर्वदा उनकी संनिधिमें ही रहना चाहते हो—यह क्या उनकी प्रत्यक्ष महान् कृपा नहीं है ? आजके युगमें ऐसे कितने आदमी हैं, जिनके ऐसे भाव हैं ? अतएव तुम विश्वास करो, फिर अनुभूति भी हो जायगी ।

× × × ×

कौन विषयी है और कौन साधक है—यह सब मत देखो । दूसरोंके दोष देखनेसे अपनेमें गुणका अभिमान जाग्रत् होता है । भगवान्‌की ओरसे वृत्ति हटाकर लोगोंके दोष-दर्शनमें लगा देनेसे चित्तमें एक नयी ज्वाला—नयी अशान्ति उत्पन्न हो जाती है । सब भगवान्‌के हैं—यही समझो । भगवान्‌के अनुग्रहका आश्रय रक्खो । उनकी कृपासे सारे विघ्न टल जायँगे, अवश्य ही टल जायँगे । भगवान्‌का प्रसाद तुमको बड़े-बड़े विघ्नोंके सरदारोंका सिर कुचलकर आगे बढ़ा ले जायगा ।

× × × ×

भगवान्‌की कृपापर विश्वास करो—जगत्‌की प्रतिकूलताको भगवान्‌की मङ्गलमयी लीला समझो । इस प्रतिकूलताके पर्देकी आड़में वे ही छिपे हैं—यह दृढ़ विश्वास कर लो; फिर प्रतिकूलतामें भी वे दिखायी देंगे । प्रत्यक्ष न सही, निश्चय धारणासे तो दीखेंगे ही । प्रतिकूलतासे दुखी होना तो भगवान्‌की मङ्गलमयतापर, उनके प्रेमपर, उनके मङ्गलविधानपर विश्वास न होना प्रकट करता है । तुम क्यों इतने अधीर तथा दुखी होते हो ? तुमपर भगवान्‌की बड़ी कृपा है । वे सदा-सर्वदा तुम्हारे साथ रहते हैं—इसपर विश्वास करो । फिर चाहे वे कहीं रक्खें—दूर रक्खें या पास, वैकुण्ठमें रक्खें या नरकमें । वे साथ रहते हैं, साथ रहेंगे । उनका बिछोह कभी होगा ही नहीं, चाहे वे स्थूल देहधारी न हों और स्थूल पाञ्चभौतिक नश्वर माया-देहधारी वे हैं भी नहीं । तब दुःख किस बातका ? हाँ, भगवान्‌का विरहताप यदि है, तब तो बहुत ठीक है; पर उससे मुक्त होनेकी इच्छा भी क्यों होनी चाहिये ? यदि वे अपने विरहकी आगमें जलाकर हमें अपने स्मरणका—हृदयके अंदर मधुर स्पर्शसुखका अनुभव कराना चाहते हैं तो बड़े ही आनन्दकी बात है । वे ऐसा ही कराते रहें और प्रसन्न होते रहें ।

अपनेको हम भगवान्‌का मान लें । फिर भगवान् अपनी चीजको चाहे जहाँ जैसे रक्खें, चाहे जैसे बरतें । वे हमें अपनी चीज मानते हैं, इसीसे अपने मनकी करते हैं । यही तो हमारे लिये बड़े गौरव तथा सुखकी बात है कि वे हमें निस्संकोच अपनी वस्तु मानकर बरतते हैं । वे सुखी रहें—यही तो हमारे लिये परम सुख है । हम उनसे उनके सुखके सिवा अपने सुखकी अथवा और कोई कामना ही क्यों करें ?

× × × ×

तुमको भगवान् इन आँखोंसे चाहे न दिखायी दें, पर तुम निश्चय समझ लो कि वे तुम्हारे पास सर्वदा रहते हैं। विश्वास करो—वे कभी भी तुमको छोड़कर अलग नहीं हो सकते; पर तुम्हारा पूरा निश्चय न होनेसे तुम उन्हें भूले हुए हो, इसीसे अशान्तिका अनुभव करते हो। हीरेका हार अपने गलेमें ही है, वह कपड़ेसे ढका है—इस बातको भूल जानेसे मनुष्य उसको बाहर ढूँढ़ता है और न मिलनेपर दुखी होता है। जब याद आ गया, तब कपड़ा हटाकर देख लिया और हार मिल गया। इसी प्रकार भगवान् सर्वदा तुम्हारे पास रहते हैं—हृदयमें विराजित हैं, केवल निर्गुण-निराकाररूपमें ही नहीं, तुम्हारे जाने-माने सगुण-साकाररूपमें भी। विश्वास करो कि वे साथ रहते हैं—सदा साथ रहते हैं। इसके बाद निश्चय होगा—रहते ही हैं। फिर उनकी इच्छा होगी, तब वे दीखने लगेंगे। यह उनकी इच्छापर छोड़ दो। वे सदा साथ रहते हैं—यह क्या उनकी कम कृपा है? उनकी यदि स्वप्नमें भी झाँकी हो जाय तो बड़ा सौभाग्य है, उनकी महती कृपा है।

कदाचित् ऐसी बात न जँचे, यद्यपि यह है तो परम सत्य ही—तो उनके न मिलनेसे उनके वियोगमें, विरहमें जो उनका पल-पलमें स्मरण होता है, वह क्या कम सौभाग्य है? उसमें क्या उनकी कम कृपा है?

वे नहीं चाहते तो न मिलें, न दर्शन दें, बड़े-से-बड़ा दुःख दें; पर वह दुःख यदि नित्य उनका मधुर स्मरण कराता रहता हो तो क्या यह हमारी चाह नहीं होनी चाहिये कि उनके इस मधुर-मधुर स्मरण-सुखका महान् आनन्द—महान् सौभाग्य प्रतिक्षण मिलता रहे—चाहे वह वियोग-जनित दुःखसे ही मिलता हो। वह दुःख वस्तुतः परमानन्दरूप है, जो नित्य-निरन्तर प्राण-प्रियतम प्रभुकी स्मृति कराता रहता है।

'करौ भजन-उपाव'

जग में कहा कियो तुम आय।
स्वान-जैसो पेट भरि कै, सोयो जन्म गँवाय॥
पहर पछिले नाहिं जागो, कियो ना सुभ कर्म।
आन मारग आय लागो, लियो ना गुरुधर्म॥
जप न कीयो, तप न साधो, दियो ना तैं दान।
बहुत उरझे मोह मद में, आप कीया मान॥
देह घर है मौतका रे, आन काढ़ैं तोहि।
एक छिन नहिं रहन पावै, कहा कैसो होहि॥
रैन-दिन आराम ना, काटै जो तेरी आव।
चरनदास कहैं सुन सहजिया, करौ भजन-उपाव॥

—संत चरनदासजी

पागलकी झोली

[भगवत्सेवा]

(लेखक—महात्मा श्रीश्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज)

चला न जाये कोई भी क्षण,
जीवनमें प्रभुसेवाहीन ।
विषयविरत हो रहे सदा मन,
सेवारहित हो उठे दीन ॥

प्रियतम भगवान्‌की सेवाके अतिरिक्त भक्त और कुछ—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नहीं चाहते, केवल सेवा ही उनके लिये काम्य है "आऊँगा, जाऊँगा, चरणोंकी सेवा करूँगा" बस, इतनेसे ही भक्त कृतार्थ हो जाता है ।

श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं, 'स्वर्गसुख, सम्पदा, धन-ऐश्वर्य एवं स्वर्गका राज्य'—ये तो तुच्छ बातें हैं;

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥
(श्रीमद्भागवत ३ । २९ । १३)

'सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य एवं सायुज्य मुक्तिको मेरे दान करनेपर भी भक्तजन ग्रहण नहीं करते ।'

मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम् ।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविप्लुतम् ॥
(श्रीमद्भागवत ९ । ४ । ६७)

भक्तकी प्रार्थना तो यही होती है—

चला न जाये कोई भी क्षण, जीवनमें प्रभुसेवाहीन ।
विषयविरत हो रहे सदा मन, सेवारहित हो उठे दीन ॥
गृह-उपलेप, देवगृह-मार्जन, श्रीविग्रहनिर्माल्यहरण ।
तुलसी, चन्दन, कुसुमचयन औ हृदयकमलमें उनका ध्यान ॥
मन्त्रजाप, रूपाकृति-चिन्तन, सूक्तपाठ, स्तुति, संकीर्तन ।
वेद-पुराण-शास्त्रका प्रपठन, विधिपूर्वक हो देवार्चन ॥
पञ्चविधा पूजाका सेवन, वशमें वाक्य, देह और मन ।
प्रेममूर्तिका प्रेमिल पूजन, दुःख बनेगा जीवनधन ॥

सेवैव ऊर्ध्वं नयते ।

'सेवा ही ऊर्ध्वलोकमें ले जाती है ।' वह सेवा ही अहंता-ममताको नष्ट करके, देहाभिमानको विगलित करके आत्म-साक्षात्कार कराती है । सेवा ही उस प्रेममय प्रियतमका प्रत्यक्ष दर्शन करा देती है, सेवा ही उस सुदयितको चिरप्रेमपाशमें बंदी बनाकर रख छोड़ती है और उसके लिये किसी प्रकारका साधन-भजन, योग-यज्ञ, तपस्या नहीं करनी होती । केवल सेवा-ही-सेवा ! स्थूलशरीरमें सेवा ! मानसिक सेवा ! सेवाकारी सेवक जान ही नहीं पाते कि इस संसारपाशसे कब, किस प्रकार वे मुक्त हो चुके हैं । काम-क्रोधादिरूप ग्राह-मकरादिसे समाकुल भीम भवसागरको कब, किस प्रकार पार कर चुके हैं, यह उनको बोध ही नहीं होता ।

'बहु स्यां प्रजायेयमिति ।' (छां० उप० ६ । २ । ३)

उपनिषद्‌में हम देखते हैं—भगवान्‌की इच्छा हुई, अनेक होकर जन्म ग्रहण करूँ और अनेक होकर, तृणगुच्छसे लेकर ब्रह्मापर्यन्तके वेषमें सजकर अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके रूपमें हमारे लीलामय ठाकुर लीला करने लगे । भगवान् श्रीब्रह्मासे कहते हैं—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत् सदसत्परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥
(श्रीमद्भागवत २ । ९ । ३२)

'सृष्टिके पूर्व एकमात्र मैं ही था—सत्, असत् या अव्यक्त कुछ भी नहीं था । सृष्टिके पश्चात् जो कुछ भी स्थूल, सूक्ष्म वस्तुसमूह रहता है, वह सब भी मैं ही हूँ एवं सृष्टिके लय हो जानेपर एकमात्र परतत्त्व—मैं ही अवशिष्ट रहूँगा ।' था भी मैं, हूँ भी मैं और रहूँगा भी मैं ।

'नेह नानास्ति किञ्चन ।' (कठोप० ४ । ११)

'यहाँ नाना कुछ भी नहीं है ।'

देवा मनुष्याः पशवः पक्षिवृक्षसरीसृपाः ।
रूपमेतदनन्तस्य विष्णोर्भिन्नमिव स्थितम् ॥
(विष्णुपुराण १ । १९ । ४७)

'भिन्नके समान स्थित होनेपर भी देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी, वृक्ष और सर्प—सभी अनन्त विष्णुके रूप हैं, जो भिन्न-से होकर स्थित हैं—यह जानकर समस्त स्थावर-जंगम जगत्‌को आत्मतुल्य देखना उचित है; क्योंकि विष्णु ही विश्वरूपधारी हैं ।'

यानि मूर्तान्यमूर्तानि यान्यत्रान्यत्र वा क्वचित् ।
सन्ति वै वस्तुजातानि तानि सर्वाणि तद्वपुः ॥
(विष्णुपुराण १ । २२ । ८१)

'जिस-किसी स्थानमें मूर्त (साकार), अमूर्त (निराकार)—जो कुछ भी वस्तुसमूह है, वह समस्त ही उनका शरीर है।'

ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णु-
वंनानि विष्णुर्गिरयो दिशश्च।
नद्यः समुद्राश्च स एव सर्वं
यदस्ति यन्नास्ति च विप्रवर्य॥
(विष्णुपुराण २ । १२ । ३८)

'विष्णु ही चन्द्रमा-सूर्य-नक्षत्रादि समस्त ज्योतिर्मण्डल हैं, विष्णु ही चतुर्दश भुवन, विष्णु ही निखिल अरण्य-पर्वत-समूह, समस्त दिशाएँ, नदीनिचय एवं सकल समुद्र हैं। सब कुछ वे ही हैं। विप्रवर ! भाव-अभाव जितने पदार्थ हैं, सब विष्णु ही हैं।'

परमार्थं सारभूतं यदद्वैतमशेषतः।

यही संक्षेपमें तुम्हारे प्रति मेरा उपदेश है। सभी वस्तुओंमें परमात्माका अभेद ज्ञान ही परमार्थ और सारभूत है।

एकः समस्तं यदिहास्ति किंचित्-
तदच्युतो नास्ति परं ततोऽन्यत्।
सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेत-
दात्मस्वरूपं त्यज भेदमोहम्॥
(विष्णुपुराण २ । १६ । २३)

'इस जगत्में जो कुछ है, वह सभी श्रीभगवान् अच्युत हैं। उनसे व्यतिरिक्त और कुछ नहीं है। तुम या मैं एवं जो समस्त पदार्थ हैं, वह सारा-का सारा ही आत्मस्वरूप है; अतएव भेद-मोहका त्याग कर दो।'

ज्ञातमेतन्मया त्वत्तो यथा सर्वमिदं जगत्।
विष्णुर्विष्णौ विष्णुतश्च न परं विद्यते ततः॥
(विष्णुपुराण ३ । ३ । १)

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—'यह जगत् विष्णुस्वरूप है, विष्णुमें ही इसकी अवस्थिति है तथा विष्णुसे ही इसकी उत्पत्ति है; उन विष्णुसे व्यतिरिक्त और कोई पदार्थ नहीं है, यह बात पहले आपसे मुझे ज्ञात हुई है।'

व्यक्तः स एव चाव्यक्तः स एव पुरुषोऽव्ययः।
परमात्मा च विश्वात्मा विश्वरूपधरो हरिः॥
(विष्णुपुराण [illegible])

'वे अव्यय महापुरुष ही व्यक्त हैं और वे ही अव्यक्त हैं एवं वे विश्वात्मा परमेश्वर श्रीहरि ही विश्वरूपमें विराजमान हैं।'

श्रीभगवान् श्रीशंकरजीसे कहते हैं—

मत्तोऽविभिन्नमात्मानं द्रष्टुमर्हसि शंकर॥
योऽहं स त्वं जगच्चेदं सदेवासुरमानुषम्।
× × ×
अविद्यामोहितात्मानः पुरुषा भिन्नदर्शिनः।
(विष्णुपुराण ५ । ३३ । ४७, ४८, ४९)

'हे शंकर ! आप अपनेको मुझसे अभिन्न जानें—मैं जो हूँ, आप भी वही हैं। इस देवासुर-मानव-परिपूर्ण जगत्में भी मेरे स्वरूपमें अविद्यासे मोहित स्वभाववाले पुरुषगण ही भेदज्ञान करते रहते हैं।'

मेरे ठाकुर सबके रूपमें सजकर लीला कर रहे हैं, भक्त इसे क्रमशः समझ पाता है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किंच भूतं प्रणमेदनन्यः॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २ । ४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, भूमि, चन्द्रमा-सूर्य आदि ज्योतिर्मय पदार्थसमूह, अखिल जीव, दसों दिशाएँ, वृक्षसमूह, नदीनिचय तथा सागर समुदाय एवं इनसे व्यतिरिक्त जो कुछ भी है, सबको श्रीहरिका शरीर समझता हुआ अनन्य प्रेमी भक्त प्रणाम करता रहे।'

भगवत्प्रेमा और श्रीभगवान्का नामसंकीर्तन करते करते भक्त आत्मविस्मृत हो जाते हैं। समस्त पदार्थ श्रीभगवान् हैं—इसका मनन करते हुए सबको प्रणाम करते रहते हैं। देवता-मनुष्य, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता, कीट-पतङ्ग—सभी श्रीभगवान्के लीला-विग्रह हैं, परमाणुसे लेकर हिमालयपर्यन्त सभी उनके लीला-शरीर हैं—यह ज्ञान दृढ़ होता जाता है—

....

यश्चारिभूतो मम सोऽपि विष्णुः।
दिवं वियद्भूः ककुभश्च विष्णु-
र्भूतानि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः॥

न मेऽस्ति बन्धुर्न च मेऽस्ति शत्रु-
र्न भूतवर्गो न जनो मदन्यः।
त्वं चाहमन्यच्च शरीरभेदे
विभिन्नमीशस्य हरेः शरीरम्॥
(विष्णुधर्मोत्तर)

'……जो मेरे शत्रु हैं, वे भी विष्णु हैं; स्वर्गलोक, आकाश, पृथ्वी, दिशाएँ—सभी विष्णु हैं। स्थावर-जंगमात्मक निखिल भूत-समुदाय विष्णु हैं, चौदहों भुवन विष्णु हैं। मेरा कोई बन्धु नहीं है, मेरा कोई शत्रु भी नहीं है, भूतग्राम भी मेरा नहीं है, मेरे अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं है। तुम या मैं अथवा अन्य कोई—सब श्रीभगवान् परमेश्वरके शरीरभेदसे पृथक् शरीरमात्र हैं।'

अहं भगवतस्तस्य मम चासौ सुरेश्वरः।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
नमो भगवते तस्मै येन सर्वमिदं ततम्।
तमेव च प्रपन्नोऽस्मि मम यो यस्य चाप्यहम्॥

'मैं उन श्रीभगवान्का हूँ, वे सुरेश्वर मेरे हैं, मैं उनके लिये अदृश्य नहीं होता, वे मेरे लिये अदृश्य नहीं होते। जिनके द्वारा यह सम्पूर्ण विश्व समाच्छन्न है, उन श्रीभगवान्को नमस्कार है। मैं उनका शरणागत हूँ, वे मेरे हैं और मैं भी उनका ही हूँ।'

सेवा करते-करते, सब कुछ श्रीभगवान्की देह देखते-देखते भक्तकी जब अपने शरीरपर—जिसको वह अपना शरीर कहता है और मनमें समझता है—दृष्टि पड़ती है, तब यह देह भी तो श्रीभगवान्का ही है; इसको स्नान कराना, भोजन कराना, सुलाना—यह भी तो भगवत्सेवा है, इस प्रकार जानता है। भक्त भोजन करके बोलता है—'प्रसाद सेवन किया।' सेवाके अतिरिक्त और कुछ भी उसका नहीं रहता।

समस्त जगत् ही जब श्रीभगवान्का शरीर है, तब यह भी तो उनका ही शरीर है, यह सोचकर भक्त आनन्दसे परिपूर्ण हो उठता है। जिसको इतने दिनोंतक मेरा शरीर कहकर जानता था, वह श्रीभगवान्का है—अहो! क्या ही आनन्द है!! क्या ही आनन्द है!! म निश्चिन्त हो गया हूँ; श्रीभगवान्का विग्रह* ही श्रीभगवान्के समस्त लीला-विग्रहोंकी सेवा कर रहा है, अहो! क्या ही आनन्द है!! एकमात्र वे पुरुषोत्तम श्रीभगवान् ही सेव्य-सेवक, पूज्य-पूजकभावमें लीला कर रहे हैं।

जय श्रीभगवत्सेवाकी जय!
जय सेवाकी जय!
जय सेवाकी जय!

आश्रयके दस सोपान

जाके दस पैड़ी अति रूड़ हैं। बिन अधिकार कौन तहाँ चढ़िहै॥
पहिले रसिक जनन कौं सेवै। दूजी दया हृदय धरि लेवै॥
तीजी धर्म सुनिष्ठा गुनिहै। चौथी कथा अतृप्त है सुनिहै॥
पंचमि पद-पंकज अनुरागै। षष्ठी रूप अधिकता पागै॥
सप्तमि प्रेम हिये विरधावै। अष्टमि रूप ध्यान-गुन गावै॥
नौमी दृढ़ता निश्चय गहिवै। दसमी रस की सरिता बहिवै॥
या अनुक्रम करि जे अनुसरहीं। शनै-शनै जग ते निरवरहीं॥
परमधाम परिकर मधि बसहीं। 'श्रीहरिप्रिया' हितू सँग लसहीं॥

—श्रीहरिव्यास देवाचार्यजी

* यह बात ज्ञानकी दृष्टिसे अथवा तान्त्रिक प्रक्रियाके अनुसार कही गयी है, जहाँ उपासक उपास्यरूप होकर उपासना करता है—'देवो भूत्वा यजेद्देवम्।' भक्तकी दृष्टि दूसरी है। वह अपनेसे भिन्न सम्पूर्ण चराचर जगत्को अपने स्वामी भगवान्का स्वरूप समझता है और अपनेको सबके दासरूपमें देखता है—'सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥'—सम्पादक

गीताका भक्तियोग

(पूज्य स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा की गयी गीताके बारहवें अध्यायकी आनुपूर्वी विस्तृत व्याख्या)

सम्बन्ध

भगवान्‌ने चौथे अध्यायके ३३वें, ३४वें और ३८वें श्लोकोंमें ज्ञानप्राप्तिके लिये प्रेरणा एवं ज्ञानकी महिमा, पाँचवें अध्यायके १७वेंसे २६वें श्लोकोंतक निर्गुण-निराकारकी उपासना, छठे अध्यायके २४वेंसे २९वें श्लोकोंतक परमात्माके अचिन्त्य स्वरूपकी उपासना और आठवें अध्यायके ११वेंसे १३वें श्लोकोंतक अव्यक्त अक्षर उपासनाका महत्त्व बतलाया। छठे अध्यायके ४७वें श्लोकमें अनन्य भक्तिका उद्देश्य रखकर चलनेवाले साधक भक्तकी महिमा बतलायी और सातवें अध्यायसे ग्यारहवें अध्यायतक जगह-जगह 'अहम्' और 'माम्' पद देकर विशेषरूपसे सगुण-साकार एवं सगुण-निराकारकी उपासनाकी विशेषता दिखलायी और अन्तमें ग्यारहवें अध्यायके ५४वें और ५५वें श्लोकोंमें अनन्य भक्तिकी महिमा एवं फल-सहित अनन्य भक्तिके स्वरूपका वर्णन हुआ। इसपर अर्जुनके मनमें यह जिज्ञासा हुई कि निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी और सगुण भगवान्‌की उपासना करनेवाले आरम्भसे लेकर अन्ततकके सभी समकक्ष साधकोंमें कौन-से साधक श्रेष्ठ हैं। उसी जिज्ञासाको लेकर अर्जुन प्रश्न कर रहे हैं—

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

भावार्थ

इस श्लोकमें अर्जुनका साकार-निराकारके उपासकोंके तारतम्यके बारेमें प्रश्न है। एक ओर (भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य रखकर) भगवान्‌के सगुणरूपकी उपासना करनेवाले प्रारम्भिक साधनासे लेकर भगवत्प्राप्तिके अत्यन्त समीप पहुँचे हुए सभी साधक हैं और दूसरी ओर उन्हींके समकक्ष (उसी मात्राके विवेक, वैराग्य, इन्द्रियसंयमादि साधन-सम्पत्तिवाले) केवल अविनाशी निराकार ब्रह्मकी ही श्रेष्ठ भावसे उपासना करनेवाले हैं। इन दोनों प्रकारके उपासकोंमें भगवान्‌को कौन-से विशेष प्रिय हैं और कौन-सी उपासना सुगमतासे शीघ्र भगवत्प्राप्ति करानेवाली है?—अर्जुनका यही प्रश्न है।

टिप्पणी

साकार उपासना करनेवाले इन सभी साधकोंका वर्णन गीताजीके निम्नलिखित संख्यावाले श्लोकोंमें निम्नलिखित पदोंके द्वारा हुआ है—

अध्याय एवं श्लोक-पद	अर्थ
११–५५ मद्भक्तः, मत्परमः, मत्कर्मकृत्	(जो मेरा प्रेमी, मेरे परायण और मेरे लिये ही सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको करनेवाला है)।
६–४७ मद्गतेनान्तरात्मना श्रद्धावान् भजते	(मुझमें लगे हुए मन-बुद्धिवाला, श्रद्धायुक्त जो साधक मुझे निरन्तर भजता है)।
७–१ मय्यासक्तमनाः मदाश्रयः योगं युञ्जन्	(मुझमें अनन्यप्रेमसे आसक्त हुए मनवाला मेरे परायण रहकर मेरे चिन्तनरूपी योगमें लगा हुआ)।
७–२९।३० युक्तचेतसः मामाश्रित्य यतन्ति	(युक्तचित्तवाले पुरुष मेरे शरण होकर साधन करते हैं)।
८–७ मय्यर्पितमनोबुद्धिः	(मेरे प्रति अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला)।
८–१४ अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः	(मुझमें अनन्य चित्तसे स्थित हुआ जो सदा ही निरन्तर मेरा स्मरण करता है)।
९–१४ सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः	(दृढ़-निश्चयवाले भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हैं)।

९–२२ अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते (अनन्य-भावसे मुझमें स्थित हुए जो भक्तजन मुझ परमेश्वरका निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्काम-भावसे भजते हैं)।

९–३० भजते मामनन्यभाक् (अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझे (निरन्तर) भजता है)।

१०–९ मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् (निरन्तर मुझमें मन लगाये रखनेवाले, मेरे प्रति ही प्राणोंका अर्पण करनेवाले (भक्तजन) आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए)।

१२–२ मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते (मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मुझमें लगे हुए जो भक्तजन मुझे भजते हैं)।

१२–६ अनन्येनैव योगेन मत्पराः उपासते (अनन्य भक्तियोगके द्वारा ही मेरे परायण हुए भक्तजन निरन्तर मेरी उपासना करते हैं)।

१२–२० भक्ताः मत्परमाः पर्युपासते (जो भक्त मेरे परायण हुए साधन करते हैं)।

अन्वय

ये भक्ताः एवम् सततयुक्ताः त्वाम् पर्युपासते।
च ये अक्षरम् अव्यक्तम् अपि तेषाम् योगवित्तमाः के॥ १॥

ये (जो)

ग्यारहवें अध्यायके ५५वें श्लोकमें भगवान्ने 'यः' और 'सः' पद जिस साधकके लिये प्रयोग किये हैं, उसी साधकके लिये दूसरे शब्दोंमें सगुण रूपकी उपासना करनेवाले सभी साधकोंके लिये यहाँ 'ये' पद आया है। इसी अध्यायके २रे और २०वें श्लोकोंमें भी 'ये' पद ऐसे ही साधकोंके लिये आये हैं।

भक्ताः (भगवान्के प्रेमी)

भगवान्के सगुण रूपमें प्रेम रखनेवाले सभी साधकोंका वाचक यह पद है। नवें अध्यायके ३३वें श्लोकमें और इसी अध्यायके २०वें श्लोकमें भी 'भक्ताः' पद साधक भक्तोंके लिये ही आया है।

एवम् (इस प्रकार)

इस प्रकार निरन्तर साधनमें लगे हुए।

सततयुक्ताः (निरन्तर आपमें लगे हुए)

भगवान्में अतिशय श्रद्धावाले साधक भक्तका एक-मात्र उद्देश्य भगवत्प्राप्ति रहनेसे उसकी प्रत्येक क्रियामें (चाहे भगवत्सम्बन्धी जप-ध्यानादि हो, अथवा व्यावहारिक—उदाहरणार्थ शारीरिक और आजीविका-सम्बन्धी) उसका नित्य-निरन्तर सम्बन्ध भगवान्से बना रहता है। भगवान्से इस प्रकार नित्य-निरन्तर जुड़े रहनेका उद्देश्य रखनेवाले साधक भक्तोंका वाचक 'सततयुक्ताः' पद है।

साधककी एक बड़ी भारी भूल होती है कि वह भगवान्का जप-स्मरण-ध्यानादि करते समय तो अपना सम्बन्ध भगवान्से मानता है और व्यावहारिक क्रियाओंको करते समय अपना सम्बन्ध संसारसे मानता है। इस भूलका कारण समय-समयपर होनेवाली उसके उद्देश्यकी भिन्नता है। जबतक बुद्धिमें धन-प्राप्ति, मान-प्राप्ति, गृहस्थ-पालनादि भिन्न-भिन्न उद्देश्य बने रहते हैं, तबतक उसका सम्बन्ध निरन्तर भगवान्के साथ नहीं रहता। यदि वह अपने जीवनके एकमात्र उद्देश्य भगवत्प्राप्तिको भलीभाँति पहचान ले तो उसकी प्रत्येक क्रियाका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति ही हो जायगा। लोगोंको चाहे ऐसा दीखे कि भगवान्का जप-स्मरण-ध्यानादि करते समय उसका सम्बन्ध भगवान्से है—और व्यावहारिक क्रियाओंको करते समय भगवान्से नहीं है; परंतु एकमात्र भगवत्प्राप्ति ही लक्ष्य रहनेसे वह नित्य-निरन्तर भगवान्के साथ जुड़ा हुआ है। इसलिये वह 'सततयुक्त' है।

टिप्पणी

क्रियाके ठीक आरम्भमें और अन्तमें यदि साधकको भगवत्स्मृति है तो क्रिया-कालमें भी निरन्तर भगवत्स्मृति ही माननी चाहिये।

त्वाम् (आप सगुणरूप परमेश्वरको)

यहाँ 'त्वाम्' पदसे अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णके उसी प्रत्यक्ष स्वरूपको लक्ष्य करके कह रहे हैं, जिसको

ग्यारहवें अध्यायके ५३वें और ५५वें श्लोकोंमें भगवान्‌ने 'माम्' पदसे कहा है। फिर भी इस पदसे उन सभी साकार रूपोंको ग्रहण कर लेना चाहिये, जो भगवान्‌ने भिन्न-भिन्न अवतारोंमें धारण किये हैं। दिव्यधाममें भी भगवान्‌का सगुण रूप विराजमान है—जिसे अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार लोग अनेकों रूपों और नामोंसे युक्त कहते हैं।

पर्युपासते (अतिश्रेष्ठभावसे भजते हैं)

'पर्युपासते' पद अतिश्रेष्ठभावसे उपासना करनेवाले साधकोंके सम्बन्धमें कहा गया है। यही पद नवें अध्यायके २२वें श्लोकमें और इसी अध्यायके २०वें श्लोकमें सगुण-साकार उपासनाके सम्बन्धमें आया है। इसी अध्यायके २रे श्लोकमें 'परया श्रद्धया उपासते' (श्रेष्ठ श्रद्धापूर्वक उपासना करते हैं) पदोंसे साकार उपासकोंकी ही बात भगवान्‌ने कही है। इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें यही पद निर्गुण-निराकारके उपासकोंके लिये आया है और पहले श्लोकके उत्तरार्द्धमें निर्गुण-निराकारके उपासकोंके लिये अध्याहार किया गया है। चौथे अध्यायके २५वें श्लोकमें देवताओंके उपासकोंके लिये इसी पदका प्रयोग किया गया है।

च (और)

ये (जो)

—निर्गुण-निराकारकी ही उपासना करनेवाले साधकोंका वाचक है। अर्जुनने श्लोकके पूर्वार्द्धमें जिस कोटिके सगुण-साकार-उपासकोंके लिये 'ये' पदका प्रयोग किया है, उसी कोटिके निर्गुण-निराकारके उपासकोंके लिये यहाँ 'ये' पदका प्रयोग किया गया प्रतीत होता है। इसी अध्यायके ३रे और ४थे श्लोकोंमें 'ये' और 'ते' पद एवं ५वें श्लोकमें 'तेषाम्' पद निर्गुण-निराकारके साधकोंके लिये आये हैं।

अक्षरम् (अविनाशी)

'अक्षरम्' पद अविनाशी सच्चिदानन्दघन परब्रह्मका वाचक है। इसकी विस्तृत व्याख्या इसी अध्यायके ३रे श्लोकमें की जायगी।

अव्यक्तम् (निराकार)

जो किसी भी इन्द्रियका विषय नहीं है, उसे 'अव्यक्त' कहते हैं। यहाँ 'अव्यक्तम्' पदके साथ 'अक्षरम्' विशेषण होनेसे यह निर्गुण-निराकार ब्रह्मका वाचक है। इसकी विस्तृत व्याख्या इसी अध्यायके ३रे श्लोकमें की जायगी।

अपि (ही)

'अपि' पदसे यहाँ ऐसा भाव प्रतीत होता है कि यहाँपर साकार-उपासकोंकी तुलना उन्हीं निराकारके उपासकोंसे है, जो केवल निराकार ब्रह्मको श्रेष्ठ मानते हैं और भजते हैं, न कि सगुण-साकारमें श्रद्धा-भक्ति रखनेवाले निराकार-उपासकोंसे।

[पर्युपासते] (उपासना करते हैं) अध्याहार
तेषाम् (उन दोनोंमें)

'तेषाम्' पद यहाँ सगुण और निर्गुण दोनों प्रकारके उपासकोंके लिये आया है। इसी अध्यायके ५वें श्लोकमें 'तेषाम्' पद निर्गुणके उपासकोंके लिये आया है, जब कि ७ वें श्लोकमें 'तेषाम्' पद सगुण-उपासकोंके लिये आया है।

योगवित्तमाः के (अति उत्तम योगवेत्ता कौन हैं ?)

इन पदोंसे अर्जुनका प्रश्न यह है कि कौन-सा उपासक भगवान्‌को विशेष प्रिय है और किस उपासकको शीघ्र और सुगमतापूर्वक भगवत्प्राप्ति होती है।

सम्बन्ध

अर्जुनके उपर्युक्त प्रश्नके उत्तरमें भगवान् निर्णय देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

भावार्थ

भगवान् निर्णय देते हुए कहते हैं कि मुझमें

मनको तन्मय करके, नित्य-निरन्तर मुझमें ही रमण करते हुए जो साधक परम श्रद्धासे मेरे सगुण रूपकी उपासना करते हैं, वे मुझे केवल निर्गुण-निराकारके उपासकोंकी अपेक्षा ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण योगियोंसे (मेरी प्राप्तिके अन्य भिन्न-भिन्न साधनोंका अवलम्बन करनेवाले हठयोगी, राजयोगी, लययोगी आदि योगियोंकी अपेक्षा) अतिप्रिय और अत्युत्तम योगी मान्य हैं। मैं उनकी क्या बड़ाई करूँ ? मेरे वे अपने हैं और मेरे ही हैं। मेरे अपने हैं, इसलिये उनके साधनकी मैं रक्षा करता हूँ तथा स्वयं ही मैं उनका उद्धार कर देता हूँ। उनसे बढ़कर और कोई मेरे प्रियतम नहीं हैं। मेरी प्राप्तिके सर्वश्रेष्ठ साधनको धारण करनेके कारण मेरे मतमें वे ही वास्तवमें योगवेत्ता हैं।

टिप्पणी

भगवान्ने ठीक यही निर्णय अर्जुनको छठे अध्यायके ४७वें श्लोकमें बिना पूछे ही दे दिया था, किंतु उस विषयमें उनका अपना प्रश्न नहीं होनेके कारण अर्जुन उस निर्णयको पकड़ नहीं पाये थे। इसीलिये इस अध्यायके पहले श्लोकमें उनको प्रश्न करना पड़ा।

ऐसे ही साधकोंके मनमें किसी विषयको जाननेकी पूरी अभिलाषा और उत्कण्ठाकी कमीसे प्रश्न न होनेके कारण साधारणतया सत्सङ्गमें सुनी हुई और शास्त्रोंमें पढ़ी हुई साधन-सम्बन्धी मार्मिक और महत्त्वपूर्ण बातें भी वे पकड़ नहीं पाते। यदि उनके प्रश्नके उत्तरमें वही बात कही जाती है तो वे उसे अपने लिये विशेष बात समझते हैं और विशेषतासे पकड़ लेते हैं। साधारणतया सुनी हुई और पढ़ी हुई बातोंको अपने लिये न समझकर उसकी उपेक्षा कर देते हैं; यद्यपि सामान्यतया उस बातके संस्कार तो रहते ही हैं।

अन्वय

मयि मनः आवेश्य नित्ययुक्ताः ये परया श्रद्धया
उपेताः माम् उपासते ते मे युक्ततमाः मताः ॥ २ ॥

मयि मनः आवेश्य नित्ययुक्ताः ये परया श्रद्धया उपेताः माम् उपासते। (मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मुझमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त हुए मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं)।

इन पदोंसे भगवान्ने खास तीन बातें बतलायी हैं, जो निम्नलिखित हैं—

(१) मयि मनः आवेश्य (मनका लगना)।

(२) नित्ययुक्ताः परया श्रद्धया (श्रेष्ठ श्रद्धाका होना अर्थात् बुद्धिका लगना) और

(३) माम् उपासते (निरन्तर मेरी उपासना करना)।

मन वहीं लगेगा, जहाँ प्रेम होगा। जिसमें प्रेम होता है, उसीका चिन्तन होता है और उसीका वह सङ्ग चाहता है।

साधककी बुद्धि वहीं लगेगी, जिसको वह सर्वश्रेष्ठ समझेगा। बुद्धि लगनेपर अर्थात् परमश्रद्धा होनेपर वह अपने द्वारा निर्णीत सिद्धान्तके अनुसार जीवन बनायेगा (सिद्धान्तसे कभी विचलित नहीं होगा)।

निरन्तर उपासनाका तात्पर्य है—निरन्तर भजन। अर्थात् नामजप, चिन्तन, ध्यान, सेवा-पूजा—यहाँतक कि सम्पूर्ण क्रियामात्र ही भगवान्की उपासना है।

श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निरन्तर भजन तभी होगा, जब साधक स्वयं भगवान्में लगेगा। स्वयंका लगना यही है कि साधक अपने-आपको केवल भगवान्का ही समझे। नवें अध्यायके ३०वें श्लोकमें 'अनन्यभाक् भजते' (अन्यको नहीं भजता) पदोंसे साधकका यही निश्चय प्रतीत होता है कि 'मैं अन्यका नहीं, किंतु केवल भगवान्का ही हूँ।'

'मैं केवल भगवान्का ही हूँ'—इसका तात्पर्य यह है कि जैसे शरीर माता-पिता दोनोंके अंशसे बना है, वैसे ही जीवमें प्रकृति और परमात्मा दोनोंका अंश है। शरीर प्रकृतिका अंश है और जीव परमात्माका अंश

है—गीता १४ । ३-४ । 'ममैवांशो जीवलोके' (इस देहमें यह जीवात्मा मेरा ही अंश है) गीता १५ । ७ । प्रकृतिकी ओर वृत्ति न रखकर केवल भगवान्‌की ओर वृत्ति रखनेवाला ही यह कहेगा कि 'मैं भगवान्‌का हूँ ।' 'मैं भगवान्‌का हूँ' कहनेवाला कोई नया सम्बन्ध भगवान्‌से नहीं जोड़ता । चेतन और नित्य होनेके कारण जीवका और भगवान्‌का स्वतःसिद्ध नित्य सम्बन्ध है और सदा ही रहेगा । इस सम्बन्धकी अखण्ड जागृति रखना ही इस उक्तिका लक्ष्य है ।

जड और चेतन दोनोंका अंश होते हुए भी प्रायः साधारण मनुष्योंका जडताकी ओर ही मुख रहता है । चेतनको भुलाकर जडताकी ओर मुख होनेके कारण जीव 'मैं' पनका सम्बन्ध शरीरसे मान लेता है । अर्थात् 'मैं शरीर हूँ' यह मान लेता है । फिर शरीरके साथ सम्बन्ध रहनेसे ही वर्ण, आश्रम, जाति, नाम, व्यवसाय और बाल्यादि अवस्थाओंको वह बिना याद किये भी अपनी ही मानता रहता है, अर्थात् कभी भूलता ही नहीं ।

जब भ्रमसे जडके साथ माने हुए सम्बन्धकी भावना भी इतनी दृढ़ रहती है कि किसी अवस्थामें भी जीव उसे भूलता नहीं, तो फिर स्वयं चेतन और नित्य होते हुए यदि वह अपने सजातीय एवं नित्य रहनेवाले परमात्माके साथ अपने सच्चे सम्बन्धको सर्वथा पहचान ले तो किसी अवस्थामें भी परमात्माको कैसे भूल सकता है ? इसलिये उसे सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते हर समय प्रत्येक अवस्थामें ही भगवान्‌का स्मरण, चिन्तन स्वभावतः होगा, करना नहीं पड़ेगा ।

जिस साधकका उद्देश्य सांसारिक भोगोंका संग्रह और उनसे सुख लेना नहीं है, किंतु एकमात्र परमात्माकी प्राप्ति ही है, उस साधकके द्वारा 'मैं भगवान्‌का हूँ' इस सम्बन्धकी पहचान प्रारम्भ हो गयी और इस पहचानकी पूर्णतामें उसके अंदर अहंकार, मन, बुद्धि, इन्द्रियों और शरीरादिके द्वारा सांसारिक भोगोंसे अर्थात् प्रकृतिसे सुख लेनेकी इच्छा बिल्कुल नहीं रहेगी । केवल एकमात्र भगवान्‌का होते हुए भी जितने अंशमें वह प्रकृतिसे सुख-भोग करेगा, उतने अंशमें उसने इस सम्बन्धको दृढ़तासे पकड़ा नहीं है । उसका उतने अंशमें प्रकृतिकी ओर ही मुख है । इसलिये साधकको चाहिये कि वह प्रकृतिसे सर्वथा विमुख होकर अपने-आपको केवल भगवान्‌का ही माने ।

मयि मनः आवेश्य (मुझमें मनको एकाग्र करके)

चौथे अध्यायके १०वें श्लोकमें 'मन्मया' पदसे, छठे अध्यायके १४वें श्लोकमें तथा अठारहवें अध्यायके ५७वें और ५८वें श्लोकोंमें 'मच्चित्तः' पदसे, सातवें अध्यायके पहले श्लोकमें 'मय्यासक्तमनाः' पदसे, आठवें अध्यायके ७वें श्लोकमें तथा इसी अध्यायके १४वें श्लोकमें 'मय्यर्पितमनोबुद्धिः' पदसे, नवें अध्यायके ३४वें श्लोकमें तथा अठारहवें अध्यायके ६५वें श्लोकमें 'मन्मना भव' पदोंसे, दसवें अध्यायके ९वें श्लोकमें 'मच्चित्ताः' पदसे और इसी अध्यायके ८वें श्लोकमें 'मय्येव मन आधत्स्व' पदोंसे भगवान्‌में लगनेके लिये ही कहा गया है । अथवा ये पद उनके लिये आये हैं, जिनका मन भगवान्‌में लगा हुआ है ।

नित्ययुक्ताः (नित्य-निरन्तर भगवान्‌में लगे हुए)

सातवें अध्यायके १७वें श्लोकमें 'नित्ययुक्तः' पद सिद्ध भक्तका वाचक है, आठवें अध्यायके १४वें श्लोकमें 'नित्ययुक्तस्य' पद और नवें अध्यायके १४वें श्लोकमें 'नित्ययुक्ताः' पद साधक भक्तोंका वाचक है एवं सातवें अध्यायके ३०वें श्लोकमें 'युक्तचेतसः' पद साधक भक्तोंके लिये आया है ।

उपासते (उपासना करते हैं)

नवें अध्यायके १४वें श्लोकमें और इसी अध्यायके छठे श्लोकमें 'उपासते' पद सगुण भगवान्‌की उपासनाके

लिये आया है, नवें अध्यायके १५वें श्लोकमें 'उपासते' पद निर्गुण ब्रह्मकी उपासनाके लिये आया है और तेरहवें अध्यायके २५वें श्लोकमें 'उपासते' पद गुरुजनों और महापुरुषोंके आज्ञानुसार साधना करनेके लिये आया है ।

ते मे युक्ततमाः मताः (वे मुझे अत्युत्तम योगी मान्य हैं)

भगवान्‌ने इसी अध्यायके २०वें श्लोकमें सगुण उपासकोंको 'अतीव मे प्रियाः' (मेरे अत्यन्त प्यारे हैं) कहा है और जो भगवान्‌के प्यारे हैं, वे ही तो श्रेष्ठ हैं ।

आठवें अध्यायके १४वें श्लोकमें 'तस्याहं सुलभः' पदसे सगुण उपासकोंके लिये भगवान्‌ने अपनेको सुलभ बताया है और पाँचवें अध्यायके छठे श्लोकमें 'नचिरेण' पदसे एवं इसी अध्यायके सातवें श्लोकमें 'नचिरात्' पदसे भक्तोंको अपनी प्राप्ति शीघ्रतापूर्वक बतलायी है ।

ग्यारहवें अध्यायके ५४वें श्लोकमें भगवान् कह चुके हैं कि 'अनन्यभक्तिके द्वारा साधक मुझे देख सकता है, तत्त्वसे जान सकता है और प्राप्त कर सकता है'; परंतु अठारहवें अध्यायके ५५वें श्लोकमें निर्गुण-उपासकोंके लिये अपनेको केवल तत्त्वसे जानने और प्राप्त करनेकी ही बात कही है, उन्हें दर्शन देनेकी बात नहीं कही । इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सगुण-उपासकोंको भगवान्‌के दर्शन भी होते हैं, यह उनकी विशेषता है ।

छठे अध्यायके ४७वें श्लोकमें भगवान्‌ने अपने सगुणरूपमें श्रद्धा, प्रेम रखनेवाले साधकको सम्पूर्ण योगियोंसे श्रेष्ठ बतलाया । इसका तात्पर्य यह है कि भगवान्‌को भक्तिका साधन ही विशेष प्रिय है । भगवान्‌में प्रेम होनेसे उनका भगवान्‌के साथ नित्य-निरन्तर प्रेम रहता है, कभी वियोग होता ही नहीं । इसलिये भगवान्‌के मतमें भक्त ही वास्तवमें उत्तम योगवेत्ता है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि भक्तकी इन विशेषताओंको लेकर ही भगवान् सगुण-उपासकोंको इन पदोंसे सर्वोत्तम योगी बतलाते हैं ।

यहाँपर 'ते मे युक्ततमाः मताः' बहुवचन पद देकर जो बात कही गयी है, वही बात छठे अध्यायके ४७वें श्लोकमें 'स मे युक्ततमो मतः' एकवचन पद देकर कही जा चुकी है ।

(क्रमशः)

राधा-नामकी महिमा

कीरति कीरति-कुमरि की, कहि-कहि थके गनेस ।
दस सत मुख बरनन करत, पार न पावत सेस ॥
अज सिव सिद्ध सुरेस मुख जपत रहत बसु जाम ।
बाधा जन की हरत है, राधा-राधा नाम ॥
राधा-राधा जे कहैं, ते न परैं भव-फंद ।
जासु कंध पर कमल-कर धरे रहत ब्रजचंद ॥
राधा-राधा कहत हैं, जे नर आठौं जाम ।
ते भव-सिंधु उलंघि कै, बसत सदा ब्रजधाम ॥

—श्रीहठीजी

आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ

संतके पास उनकी इच्छाके अनुसार चलनेकी इच्छा एवं चेष्टा लेकर रहें।

सच्चे मनसे पवित्र एवं श्रद्धापूर्ण चेष्टा करनी चाहिये कि संतका सङ्ग अधिक-से-अधिक मिलता रहे। हाँ, उनके पास हम उनके होकर रहें, अपनी इच्छाके अनुसार उनको चलनेकी हास्यास्पद चेष्टा छोड़कर उनकी इच्छाके अनुसार स्वयं चलनेकी इच्छा एवं चेष्टा लेकर रहें। हम अपनी इच्छाके अनुसार चलनेके लिये संतको तंग करने लगते हैं, तभी श्रीकृष्णकी माया हमपर फिरती है और हमारे लिये ऐसा संयोग बन जाता है कि बाध्य होकर हमको संतके पाससे हटना पड़ता है। यदि वास्तवमें हम अपने जीवनको भगवन्मुखी बनानेकी इच्छा लेकर, पर्याप्तमात्रामें विनयका भाव लेकर, सांसारिक स्वार्थको जलाञ्जलि देकर संतके पास रहनेकी इच्छा करें, रहने लगें तो फिर हमारा प्रारब्ध बाधा नहीं दे सकता; श्रीकृष्णकी कृपा हमारी इस इच्छाको निमित्त बनाकर हमारे लिये तुरंत फलोन्मुख नवीन प्रारब्ध बना देगी तथा हमको संतके पवित्र सङ्गसे वञ्चित नहीं होना पड़ेगा।

इसपर हम एक दलील दे सकते हैं कि 'क्या संतकी इच्छाके विपरीत चलनेकी हमारी शक्ति है? हम तो सर्वथा उनकी रुचिके अनुसार ही चलते हैं।' पर यह दलील मनका भ्रम है। अतएव इसे दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

किसी भी निमित्तसे पाप न हो—यह सावधानी रखते हुए निरन्तर नाम-जप कीजिये।

सार बात इतनी ही है कि हम अपनी जानमें बेईमानी नहीं करें। अर्थात् अपनी पूरी शक्ति लगाकर यह चेष्टा करें कि मनसे निरन्तर भगवान्का स्मरण एवं वाणीसे आवश्यकताभर बोलनेके बाद निरन्तर नाम-जप हो। यदि अपनी ओरसे हम चेष्टामें त्रुटि नहीं करेंगे तो फिर भगवान्की कृपाके दर्शन हो जानेमें विलम्ब नहीं होगा और उनकी कृपाके एक कणका अनुभव होते ही सारी उधेड़-बुन मिट जायगी, सारा कष्ट मिट जायगा तथा जीवन अपने-आप प्रभुके चरणोंमें समर्पित हो जायगा।

पापोंका फल नरक है। अतः किसी भी निमित्तसे पाप नहीं हों। वहाँ यह बहाना नहीं चलता कि 'मैंने अपने लिये पाप नहीं किया।' पाप करनेवालेको ही पापका दण्ड भोगना पड़ता है। अतः किसीके मुलाहिजे-से व्यापार आदिमें झूठ-कपट आदि नहीं करना चाहिये। सर्वथा झूठ-कपटसे हम बचें। इसके लिये यदि स्वजनोंका त्याग करना पड़े तो वह भी करनेके लिये तैयार रहना चाहिये। नहीं तो स्वजनोंके साथ ही हमें डूबना पड़ेगा।

अपनी सारी शक्ति लगाकर मन भगवान्से तथा संत पुरुषोंसे जोड़ दें।

अपनी सारी शक्ति लगाकर मनको भगवान्से तथा संत पुरुषोंसे जोड़ दें। उदाहरणके लिये खूब तेज आग जल रही है। उसमें हम कोई भी चीज डाल दें, वह चीज भले ही गंदी-से-गंदी क्यों न हो—यहाँतक कि वह विष्ठा ही क्यों न हो, आगमें पड़ते ही आग उसे अपना गुण दे ही देगी। आगमें पड़नी चाहिये, फिर आगका स्वाभाविक गुण ही है—अपने समान कर लेना। आगमें यह गुण कहाँसे आया? श्रुतियाँ कहती हैं—'भगवान्से ही यह गुण आगमें आया है।' फिर अनन्त-शक्ति-सामर्थ्यसम्पन्न भगवान्से मन जुड़ते ही भगवान्का गुण हममें आ जाय, इसमें तनिक भी आश्चर्य-की गुंजाइश नहीं है। यही बात संत-पुरुषकी भी है; क्योंकि शास्त्र यह बात स्पष्टरूपमें कहते हैं कि 'संत और भगवान्में बिल्कुल भेद नहीं है।'

'संतमें या भगवान्में प्रेम कैसे हो ?'—इस प्रश्नके उत्तरमें यही समझमें आता है कि संत एवं भगवान् दोनों ही प्रेमके समुद्र हैं; असीम प्रेम वहाँ निरन्तर बहरा रहा है। कोई भी—चाहे उसका मन कितना भी गंदा क्यों न हो, उसी गंदे-से-गंदे मनको लेकर यदि भगवान्से या संतसे उसे जोड़ दे तो निश्चित समझिये, गंदगी तो आप ही मिट जायगी और स्वयं मन ही प्रेमरूप हो जायगा, प्रेम-ही-प्रेम रह जायगा।

संतकी बात छोड़ दें, हम जिस किसी चीजसे मनको जोड़ दें, उसी चीजका गुण मनमें आ जायगा। अतएव हमारी दृष्टिमें जो सबसे ऊँचा पुरुष है, उसके साथ मनको जोड़ दें, उसके गुण हममें आ जायँगे।

अहंकार है तो उसे रहने दें, पर भगवान् या संतसे मन जुड़ना चाहिये। फिर अहंकारको जलते देर नहीं लगती। पर वास्तवमें मन जुड़नेकी चाह नहीं है। 'किस प्रकार मन जुड़े'—यह चाह भी हो तो काम बन जाय।

श्रद्धा करनेकी इच्छा तो हमको करनी पड़ेगी और उस श्रद्धाको अचल करनेका काम भगवान् करेंगे।

भगवान्ने गीतामें कहा है—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥
(७।२१)

अर्थात् 'जो मनुष्य जहाँ, जिस देवतामें श्रद्धा करना चाहता है, मैं उसकी श्रद्धाको उसीमें अचल कर देता हूँ।' भगवान्के कथनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि श्रद्धा करनेकी इच्छा तो मनुष्यको करनी पड़ेगी और उसकी उस श्रद्धाको अचल करनेका काम भगवान् करेंगे। जब श्रद्धा अचल नहीं होती, तब यह निश्चयपूर्वक समझ लेना चाहिये कि श्रद्धाकी इच्छा ही नहीं हुई। यदि इच्छा हुई होती तो भगवान्की बात क्या कभी झूठ हो सकती थी ?

भगवान् बिल्कुल भीतरकी बात जानते हैं, उनके सामने कोई पोल चल ही नहीं सकती। हमारी इच्छाके तहमें—बिल्कुल भीतरी तहमें क्या वासना है, किस बातसे प्रेरित होकर हम कौन-सी इच्छा करते हैं, इसका जितना पता भगवान्को है, उतना हमको भी नहीं है। हमने इच्छा की कि हमारी किसी संत पुरुषमें श्रद्धा हो जाय तो निश्चय समझिये—यदि यह सच्ची इच्छा है तो—अवश्य-अवश्य हमारी श्रद्धा उस संत पुरुषमें भगवान् कर ही देंगे। ठगपर श्रद्धा करना हम चाहेंगे ही क्यों, और यदि भूलसे हम किसी ठगको महात्मा मान लें तो फिर यदि हमारे मनकी सच्ची इच्छा महात्मापर श्रद्धा करनेकी है तो भगवान् निश्चय हमको बतला देंगे। इतना ही नहीं, हमको सच्चे संतसे मिलाकर हमारी श्रद्धा भी उनमें करा देंगे।

दो ही उपाय

दो ही उपाय हैं—(१)—जिस प्रकार मशीन चलती है, उसी तरह यदि जीभसे जागनेसे लेकर सोनेतक नामका निरन्तर उच्चारण हो तो इतनी शीघ्रतासे भगवान्के अस्तित्वमें विश्वास होगा कि स्वयं चकित हो जाइयेगा। मन लगे तब तो और भी जल्दी होगा, नहीं लगनेपर भी सब उपायोंकी अपेक्षा इससे अत्यन्त शीघ्र यह बात हो जायगी।

(२)—कोई महापुरुष सच्चा संत हो और उससे हृदयसे प्रार्थना की जाय अथवा भगवान्के सामने हृदयसे रोवें—'नाथ ! मेरे मनमें आपके अस्तित्वपर अखण्ड-अटूट विश्वास हो जाय', तो एक क्षणमें मनकी वृत्ति ऐसी आस्तिक बन जायगी कि हमारे पास रहनेवाले भी आस्तिक बनने लग जायँ !

असलमें उत्कट इच्छासे प्रार्थना ही नहीं होती। नहीं तो यह बिल्कुल ठीक है कि और प्रार्थनाकी सुनाईमें तो देर भी हो, किंतु यह प्रार्थना तो

भगवान् या संत अवश्य-अवश्य सुन लेते हैं। अतएव हम प्रार्थना करते चलें।

'भगवान् हैं, सर्वत्र हैं'—इस बातपर विश्वास करें।

'भगवान् हैं, सर्वत्र हैं'—इस बातपर केवल विश्वास हो जाय। फिर 'यह अमुक व्यक्ति है', यह नहीं दिखायी देगा। दिखायी देगा—'यह साक्षात् भगवान् है।' कुछ करना थोड़े है, केवल विश्वास हो जाय कि यह ठीक बात है। फिर कलममें, कागजमें, संसारके अणु-अणुमें भगवान् दिखायी देंगे—'यो मां पश्यति सर्वत्र'। पर 'भगवान् हैं'—इस बातको हृदयसे माननेवाले बहुत थोड़े हैं। वास्तवमें कमी इसी बातकी तो है। हम किसी सज्जनके पास बैठे हैं। अब हमारे मनमें यह शङ्का नहीं है कि वह सज्जन हमें नहीं देख रहा है। ठीक इसी तरह भगवान्-के अस्तित्वमें श्रद्धा हो जानेपर निरन्तर दिखायी देगा—भगवान् मुझे देख रहे हैं। फिर पाप होना असम्भव है।

एकान्तका यथार्थ दर्शन

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

हमें यह दिखाया गया है कि 'जो मनुष्य कभी अपने घरों, ग्रामों, नगरों, बाजारों और व्यापारोंमें लोभवश, मोहवश और कामनावश धन-संयोग, सुखोपभोग और स्त्री-पुत्र-परिवारके लिये भागता फिरता है, वही जब परिणामदर्शी—दूरदर्शी होता है, तब परमेश्वरको पानेके लिये अथवा शान्ति-मुक्ति-भक्ति-आनन्द पानेके लिये एकान्तकी खोजमें तीर्थों, मन्दिरों, पहाड़ों, जंगलों और गुफाओंकी ओर चल पड़ता है।' परिणामदर्शी गुरुजनोंका निर्णय है कि जिस मनुष्यके मनमें काम-ही-काम है, वहाँ उसे विश्राम नहीं मिलता। जहाँ कामका अन्त होता है, वहीं विश्राम है। सुखासक्ति-वश संसारकी संगतिमें काम-ही-काम है। संसारसे निराश होनेपर भागदौड़के स्थिर होनेपर विश्राम-ही-विश्राम है। काम भोगके लिये है, विश्राम पूर्ण योगके लिये है। सारी भागदौड़ अहंकारके साथ रहनेवाली वासना, तृष्णा और कामना-पूर्तिके लिये ही है। यह अहंकार ही अनेक प्रकारके वेष बनाता रहता है। यही मोही, लोभी, अभिमानी, कामी, दुखी-सुखी और स्वार्थी तथा विचारक, उपदेशक, विरागी, त्यागी और संन्यासी बनाता है। इस अहंकारको अपनी संकल्प-पूर्ति, तृप्ति और संतुष्टिके लिये स्वभाव बदलनेमें अत्यन्त कठिनता होती है, पर वेष, नाम और स्थान बदलनेमें अधिक देर नहीं लगती।

इस अहंकारको अपने लिये कोई-न-कोई सङ्ग चाहिये; सफलताके लिये सम्बन्ध चाहिये और अपनी पुष्टिके लिये देहके स्तरपर तथा मनोमय और विज्ञानमय कोषमें संग्रह चाहिये। अहंकारको ही धन चाहिये, मनके अनुकूल भोग चाहिये, प्रतिकूलताओंका दुःख आनेपर शान्ति चाहिये और बन्धनोंसे मोक्ष चाहिये। अहंकारको ही भक्ति-मुक्ति-शान्ति-सिद्धिके लिये सरल साधन चाहिये तथा साधनाके लिये एकान्त स्थान चाहिये। गुरुविवेकने हमें सावधान किया है कि अहंकार अपनेको खोकर अज्ञानमें ही संसारका सब कुछ चाहता है। यह अज्ञानमें धन, मान और भोगके साथ महत्त्वाकाङ्क्षी तो है ही, यह एकान्त, शान्ति, मुक्ति और सिद्धि भी अज्ञानमें ही चाहता है।

एक नगरमें संत सम्मेलनका आयोजन था; उसमें मैं भी आमन्त्रित था। सम्मेलन स्थलपर पहुँचते ही मैंने एकान्त स्थानकी खोज की। प्रबन्धकोंने मुझे एक भवन दिखाया और कहा कि यह नितान्त खाली है, इसमें कोई नहीं रहता है; मैं उस भवनके एक कक्षमें ठहर गया। फिर तो जो भी आमन्त्रित साधु, विद्वान् और कथाव्यास आते, उनको उसी भवनके एकान्त होनेका परिचय दिया जाता और उसीमें सबको ठहराया जाता। रात्रितक वह भवन अनेक एकान्तवासियोंसे भर गया। जहाँ शान्त वातावरण माना था, वहीं भिन्न-भिन्न चर्चाओंकी ध्वनि हो रही थी। कहीं धूप-बत्ती तो कहीं बीड़ी-सिगरेटका सम्मेलन चल रहा था; वहींपर मैं एकान्तकी कल्पनामें अनेकता

का भोग देख रहा था। प्रश्न बन रहा था कि क्या यही एकान्त है ?

स्पष्ट है कि हम अनेकों साधक एकान्तकी खोजमें स्वयंको ही खोये रहते हैं। जब अपनी मान्यताके अनुसार एकान्तको खोज लेते हैं, तब एकान्तके भोगी बन जाते हैं; पर एकान्तके सहारे सत्य-शान्तिके योगी नहीं हो पाते। जो स्वयंको ही खोये हुए हैं, उनके लिये परमात्माकी खोज और परमात्माको खोजनेके लिये एकान्तकी खोज तभी सार्थक होती है, जब उन्हें अपने खोये होनेका पता लग जाता है। मैं गुरु विवेकका आश्रय लेकर देख रहा था कि उपर्युक्त एकान्तमें अनेकोंकी भीड़ होनेपर जिसके भीतर जिस गुण या दोषकी प्रधानता थी, उसमें वही प्रकट हो रहा था। किसीके भीतर स्वादिष्ट पक्वान्न-मिष्टान्नका लोभ जाग्रत् हो रहा था, कोई अपने अनुकूल सेवा न पाकर क्रोध कर रहा था, उसी क्रोधीके समक्ष कोई हाथ जोड़कर क्षमा-याचना कर रहा था। किसीके भीतरसे प्रपञ्च-चर्चा निकल रही थी तो किसीके भीतरसे सत्-चर्चा—परमार्थ-चर्चा मुखरित हो रही थी। जो ऊपर होता है, वह तो सदा ही दीखता है, पर जो भीतर होता है, वह कभी-कभी सङ्गसे प्रकट होता है। प्रायः व्यवहारमें सरलता, नम्रता, मधुरता, प्रीति, उदारता ऊपर दीखती रहती है, पर लोभ, द्वेष, ईर्ष्या, काम, दम्भ और अभिमान आदि विकार भीतर रहते हैं तथा कभी-कभी सङ्गके प्रभावसे प्रकट होते रहते हैं। साधु-संन्यासी-विरागी-उदासीके त्याग, तप, ज्ञान, ध्यान और वेष आदि ऊपरसे तो सभी समय दीखते हैं, पर भीतरकी असाधुता, आसक्ति, ममता, कामना और अहंता आदि सङ्गसे कभी-कभी स्पष्ट दीख पड़ती हैं। प्रायः भीतर रहनेवाली असाधुता साधुके बाह्य वेषके अन्तरालमें बहुत दूरतक छिपी रहती है; भीतरका अशुभ प्रायः बाह्य शुभ प्रदर्शनसे ढका रहता है; यही तो कारण है कि असत्य जहाँ-तहाँ सत्यकी आकृति सजा लेता है, भीतरका अहंकार विनयकी मुद्रा बना लेता है।

सङ्गसे भीतर छिपा हुआ काम प्रकट होता है और प्रतिकूलतामें छिपा हुआ क्रोध प्रकट हो जाता है। साधक सावधान होकर काम-क्रोधसे अपने-आपको अलग करते हुए सङ्गमें ही निष्कामतापूर्वक क्षमाभावको पूर्ण करता है। मनसे सुनकर माना जाता है, बुद्धियोगद्वारा माने हुएको यथार्थतः जाना जाता है और ज्ञानमें प्रज्ञा-दृष्टि खुलनेपर सत्यका अनुभव किया जाता है। किसी जनशून्य स्थानको हम एकान्त मान लेते हैं। कुछ समय बीतनेपर उस एकान्तमें जो कुछ हम करते हैं और उसके परिणामके भोक्ता बनते हैं, उसे बुद्धियुक्त होकर जान पाते हैं। बुद्धियोगी जानता है कि उसने बाह्य दृष्टिसे जिस स्थानको एकान्त—जनशून्य माना है, वह केवल देहके लिये भले ही एकान्त हो, पर उसके मनमें तो कामनाओं, वासनाओं तथा भुक्त-अभुक्त स्मृतियोंका कोलाहल होता रहता है। प्रायः जब हम साधनाके लिये एकान्तमें बैठते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि मन इधर-उधर भाग रहा है; पर मनके आने-जाने, भागनेकी मान्यता अविवेकमें है। बुद्धियुक्त होकर निरीक्षण करनेसे पता लगता है कि जप, सुमिरन और ध्यान करते समय मनमें उसकी ही याद आती है, जिस वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति और घटनासे सम्बन्ध है, अथवा उसीकी विशेष स्मृति होती है, जिससे राग-द्वेषपूर्वक सम्बन्ध है।

जिस प्रकार जिस स्थानमें अन्य कोई न हो, मनमें खटकनेवाला कोई कोलाहल न हो, वह शरीरकी दृष्टिसे एकान्त स्थान है, उसी प्रकार जब इन्द्रियोंके चञ्चल होनेके लिये शब्द-स्पर्श-रूपादि विषयोंसे सम्बन्ध न हो, तब इन्द्रिय-दृष्टिसे एकान्त है। उसी प्रकार जब मनमें किसीकी स्मृति न आती हो, संकल्प न उठता हो, कोई इच्छा-कामना आघात न करती हो, तभी मनके लिये एकान्त है और जब विचार शान्त हो रहे हों, तो वह शान्त स्थिति बुद्धिके लिये एकान्त है। अन्तमें जब 'मैं' के भीतर 'मेरा' स्फुरित नहीं होता, वही अपने-आपके लिये एकान्त है। जहाँ अनेक नामरूपात्मक दृश्य एक अखण्ड तत्त्वमें विलीन हो जाते हैं, वहीं एकान्त है, जहाँ समाधि सिद्ध होती है। इस समाधिमें सत्यकी अनुभूति होती है। एकान्त मानना भोगका साधन बनता है, एकान्तको जानना योगका साधन दीखता है और एकान्तमें होना समाधि-सिद्धिका साधन होता है।

पशुबलि तथा नरबलि देवपूजा नहीं, सर्वोपरि पाप है

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

'कल्याण'के ९वें वर्षके विशेषाङ्क 'शक्ति अङ्क'के [जो बड़ा लोकप्रिय रहा और आज जिसे लोग किसी भी मूल्यमें खरीदना तथा मँगाना चाहते हैं, पर जो नहीं मिल पाता] सम्पादकीय लेखमें स्पष्टरूपसे लिखा गया था कि "माताको अपनी सभी संतानें समानरूपसे प्यारी होती हैं। जो अपनी भलाईकी इच्छासे माँकी गरीब संतान—बकरे, भैंसे और अन्यान्य पशु-पक्षियोंकी माँके नामपर बलि चढ़ाता है और उनके मांससे अपना पापी पेट भरता है, उसपर माँका भीषण प्रकोप ही होता है। (इसमें भागवत तथा विष्णु-पुराणकी जडभरत-कथा भी परम प्रमाण है) अतएव पशुबलिका सर्वथा त्याग करना चाहिये और मद्य-मांसादिसे किसी भी देवी-देवताकी पूजा कदापि नहीं करनी चाहिये और न उन्हें प्रसादादिके रूपमें ग्रहण ही करना चाहिये। पूजा सदा सात्त्विक भावसे हो और वह भी यथाशक्ति निष्कामभावपूर्वक।"

पर इधर ज्ञात हो रहा है कि दो-तीन वर्षोंसे राजस्थानमें तथा उत्तरप्रदेशके देवरिया जिलेमें भी बालकोंकी बलि दिये जानेकी निरन्तर घटनाएँ बढ़ रही हैं। (तथाकथित साधुओंद्वारा भी बालकोंके अपहरण एवं बलिकी घटनाएँ भी खूब हो रही हैं।) गतवर्ष राजस्थानकी विधानसभा तथा दिल्लीकी लोकसभामें इसपर पर्याप्त हो-हल्ला भी हुआ और उन-उन व्यक्तियोंपर मुकदमे चलाये जाकर अपराधियोंको पर्याप्त दण्ड भी दिया गया। पर इधर देवरियाके ही रुद्रपुर थानेके तिबई गाँवमें स्थित कालीके मन्दिरमें एक पञ्चवर्षीय बालककी बलि दिये जानेका रोमहर्षक समाचार पुनः सभी समाचार-पत्रोंमें प्रकाशित हुआ है। कहते हैं कि वह बालक अपने माता पिताके साथ कुछ दिनोंके लिये ननिहाल आया हुआ था और गाँवके बालकोंके साथ जब वह बकरी चरा रहा था, तब उसे फुसलाकर कालीमन्दिरमें ले जाकर उसकी बलि चढ़ा दी गयी। वास्तवमें इस प्रकारके जघन्य, कुटिल तथा बर्बरतापूर्ण नीच कार्यसे करुणामूर्ति जगदम्बा कभी प्रसन्न नहीं हो सकतीं। अभी एक वर्ष भी नहीं हुआ है कि इसी देवरिया नगरके (सम्भवतः प्यारेलाल नामक) एक सुनारको, जिसने लगातार कई अबोध शिशुओंकी गड़े धनके लोभसे हत्या की थी, इसी अपराधमें कठोर कालेपानीकी सजा मिली थी। ध्यान रहना चाहिये कि यदि इस परम नीच क्रियासे देवी प्रसन्न हुई होतीं तो उसे (अथवा जडभरतके जिघांसक भीलको) गड़ा धन या साम्राज्य मिल जाना चाहिये था न कि प्राणदण्ड या कठोर कालेपानीकी सजा। तथापि अज्ञानान्ध लोगोंने बिना सोचे-विचारे उसी क्षेत्रमें पुनः एक निरीह बालककी हत्या-जैसा नीच कार्य करके भारतकी सात्त्विक पूजा-पद्धतिको कलङ्कित करते हुए देवीका उपहास तथा अपना भी सत्यानाश किया। लार्ड हार्डिंगने बड़ी कठोरता एवं तीक्ष्णतासे पहले थोड़े अंशमें प्रचलित रही इस भ्रान्तिपूर्ण पाप-पद्धतिका उन्मूलन किया था।* आज भारतके शासकोंका भी यह पुनीत कर्तव्य

---

* Of much the same nature was the suppression of human sacrifices among the Khonds of the Ganjam and Orissa hills, since that also was a barbaric custom conducted under religious sanction. But in the case the religion was primitive, the custom was followed only by a small group of tribes, and its suppression did not carry with it the possibilities of political danger......British officers discovered that the primitive Khond tribes performed an annual sacrifice designed to ensure the fertility of their fields. They kept a class of victims termed *mariahs*, consisting either of unfortunate persons kidnapped from the plains and sold to the Khonds, or of the children of the victims so acquired.......In 1841 a single tribe sacrificed 240 victims in this manner in the area partly in the presidency of Bengal, partly in that of Madras....For some time difficulty was found in coordinating two governments. But in 1845 a special agency was constituted under the Governor-General. A military officer Colonel Campbell was appointed to wean the Khonds and in the long run he..................released a large number of *mariahs*. (Camb. Hist. Part V. Oxford. Hist., Part IV, Book 8, p. 593, Camb. Sh. Hist., Part III, page. 564)

होता है कि वे इस प्रकारकी कुत्सित तथा जघन्य क्रियाको सर्वथा उन्मूलित कर चोरी, डाका तथा तथाकथित साधुओंद्वारा बालकोंके अपहरण, ठगी एवं हत्या-संहार आदिका सर्वथा अन्त करनेका प्रयत्न करें। साथ ही बंगालकी सहायताके लिये जिस प्रकार जनता आज शासकोंके साथ है, उसी प्रकार उसे अपने देशके इस कलङ्कको दूर करनेमें शासकोंके साथ हाथ बँटाना चाहिये। आश्चर्य है कि गीताप्रेसके अत्यन्त निकटवर्ती जनपदमें रहकर भी जहाँ उसे सस्ते रूपमें धार्मिक-सदाचारपूर्ण सत्साहित्य मिलने तथा पढ़नेका अवसर सदा सुलभ हो, गीता-रामायणका प्रचार हो, जनतामें इस प्रकारका कुत्सित विचार कैसे पनप पाया। योगदर्शन तथा मानसमें अहिंसा तथा परसुखदायकता एवं दयादिको ही सर्वोपरि धर्म तथा परपीड़नको बार-बार महापाप—सर्वोपरि पाप बतलाया गया है—

परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा। पर निंदा सम अघ न गरीसा॥
पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
.... धर्म कि दया सरिस हरिजाना॥

—इत्यादि।

योगभाष्यमें स्पष्ट निर्देश है कि दया तथा अहिंसाके विरोधी सारे कर्म महापाप हैं—

सत्या वाग् यदि भूतोपघातपरा स्यात्, न सत्यं भवेत्। पापमेव भवेत्। (२। ३०)

अर्थात् 'जिस सत्यसे किसीकी हिंसा हो, वह सत्य भी (जिसके लिये 'धर्म न दूसर सत्य समाना' कहा गया है।) केवल पापपूर्ण होगा तथा नरकका ही मार्ग प्रशस्त करेगा।*

वृन्दावन-वासके लिये प्रेरणा

कहा-कहा नहिं सहत सरीर।
स्याम-सरन बिनु करम सहाइ न, जनम-मरन की पीर॥
करुनावंत साधु संगति बिनु, मनहिं देय को धीर।
भक्त भागवत बिनु को मेटै, सुख दै दुख की भीर॥
बिनु अपराध चहूँ दिसि बरसत, पिसुन-बचन अति तीर।
कृष्ण-कृपा कवची तें उबरैं, पावैं तबहीं सीर॥
चेतहु भैया बेगि बड़ी, कलि-काल-नदी गंभीर।
'व्यास'-बचन—बलि बृंदावन बसि, सेवहु कुंज कुटीर॥

—संत श्रीव्यासदासजी

अर्थात्—उन्हीं दोषोंके समान गंजम जिले तथा उड़ीसाके पर्वतीय इलाकोंमें धार्मिक रूढ़ियोंके नामपर नरबलिकी एक बर्बर प्रथा प्रचलित थी, जिसका उन्मूलन किया गया। यह प्रथा एक थोड़ी संख्यावाली जातिमें ही प्रचलित थी और इसके उन्मूलन या निराकरणमें कोई राजनीतिक बाधा न थी। ब्रिटिश अफसरोंको पता लगा कि प्राचीन खोंडजातिके लोग प्रतिवर्ष अधिक पैदावारके लिये विशेष उत्सवोंपर ऐसे व्यक्तियोंकी बलि देते हैं। इस बलिके लिये वे धूर्ततापूर्वक मनुष्योंको और उनके बालकोंको चुराकर रखते थे, जिन्हें 'मरिहा' कहते थे। १८४१ में इस प्रकार २४० व्यक्तियोंकी बलि हुई, कुछेक बंगालमें और शेष मद्रासमें। इन दो प्रान्तीय सरकारोंके सहयोगमें पहले तो कुछ देर हुई, पर १८४५ ई० में गवर्नर-जनरलद्वारा विधिपूर्वक एक विशेषदल गठित हुआ, कैम्पबेलको उसका अध्यक्ष बनाया गया और अन्तमें उसने इस जातिको दबाकर इस प्रथाका अन्त कर दिया और एक बड़ी संख्यामें मरिहों (बलि दिये जानेवाले मनुष्यों) का उद्धार किया।

* इस लेखके लिखते-लिखते एक घटना और हो गयी, जिसमें दक्षिण भारतमें वारंगल नगरमें तो एक अबोध बालिकाको माता तथा भ्राताने ही लक्ष्मी-मन्दिरमें ले जाकर उसकी बलि चढ़ा दी और पुलिसने उन्हें पकड़कर चालान भी कर दिया। वास्तवमें इस अंधश्रद्धा तथा जघन्य प्रवृत्तिपर अत्यन्त खेद है। प्रत्येक समझदार व्यक्तिको इसके निराकरणके लिये जी भर प्रयत्न करना चाहिये।

सुखी दम्पति

[कहानी]

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

महात्मा कबीरदासके घरपर सत्सङ्ग करनेवालोंकी भीड़ लगी हुई थी।

जिज्ञासु लोग जीवन तथा धर्मसम्बन्धी अनेक उलझनें उनके पास ले-लेकर आते और अपनी शङ्काओंका समाधान प्राप्त करते। कबीरदासके उत्तर अटपटे और मनपर स्थायी प्रभाव डालनेवाले होते थे। शरीर और आत्मामें अधिक-से-अधिक जितने सौन्दर्य और जितनी सम्पूर्णताका विकास हो सकता है, उसे स्पष्ट करना ही कबीरका उद्देश्य रहता था। आसपासके अनेक व्यक्तियोंके जीवन ढालनेमें वे महत्त्वपूर्ण कार्य करते रहते और उनके ज्ञानके चक्षु खोलते रहते।

उस दिन बहुत-से श्रद्धालु भक्त कबीरजीके घर पधारे। किसीने भक्ति, किसीने ज्ञान और किसीने योगपर अपनी शङ्काओंका समाधान कराया। महात्मा कबीरने सभीको संतुष्ट किया।

काफी समय व्यतीत हो गया। सारे दिन वे बुरी तरह भक्तोंसे घिरे रहे थे। उन्होंने बताया—इस संसारमें अनेक प्रकारकी उपलब्धियाँ भरी पड़ी हैं। एक-एक कणमें विराट् शक्तियों और आत्मिक सम्पदाओंके अम्बार भरे पड़े हैं, पर उन्हें विकसित करना सतत अभ्याससे ही सम्भव है।

लोग पूछते, 'महात्माजी! कृपया बताइये, उन्नतिका उपाय क्या है?'

वे उत्तर देते, 'मेरे भक्त! कैसी भी विषम परिस्थितिमें उन्नति करनेका उपाय यह है कि अपने ज्ञान और अभ्यास-की शक्ति बढ़ाते रहो। धैर्य रखकर काम किये जाओ। तुम्हारी उन्नतिका कोई-न-कोई उपाय निकल ही आयगा।'

श्रद्धालु भक्त एक-एक संतुष्ट होकर घर जा रहे थे। धीरे-धीरे उनकी श्रोता-मण्डली कम होती जा रही थी।

लीजिये, संध्या रात्रिमें परिवर्तित होने लगी। अब, बस, अन्धकारने अपना साम्राज्य जमाना प्रारम्भ कर दिया है, अज्ञानकी कालिमाकी तरह!

लेकिन यह क्या!

एक जिज्ञासु भक्त अभीतक सत्सङ्ग-स्थलसे नहीं गया है। अरे, यह तो अपने प्रश्नोंकी पिटारी मनमें ही दबाये बैठा है!

क्या हैं इसकी जिज्ञासाएँ और शङ्काएँ?

'कहिये, आप चुपचाप बैठे हैं! आपको क्या पूछना है?' महात्मा कबीरने उस व्यक्तिकी ओर देखकर प्रश्न किया।

'जी, क्षमा करें। मेरी कुछ निजी समस्याएँ हैं। बिल्कुल निजी—गुप्त······पोशीदा··!' वह झिझकते हुए बोला।

'कोई हर्ज नहीं, शर्माइये मत! कहिये, क्या पूछना है आपको?'

कबीरदास मुस्करा रहे थे। जहाँ निष्कपट मुस्कराहट है, वहाँ, भला, मनमें कोई दुर्भावना, स्वार्थ, ईर्ष्या आदि कैसे टिक सकते हैं!

कबीरका आत्म-भाव देखकर वह व्यक्ति द्रवित हो उठा।

तबतक उन्होंने उस भक्तके मुखमण्डलको ध्यानपूर्वक देखा। कहने लगे—'आपके चेहरेपर तो असंतोष और व्यग्रताकी कालिमा पड़ी दीखती है। इससे लगता है, आपका दाम्पत्य-जीवन अतृप्ति और कलहसे भरा है।'

'तभी तो हिचक अनुभव कर रहा हूँ।'

'कहिये, कहिये, क्या उलझन है?'

'मेरा दाम्पत्य-जीवन एक दिन भी शान्ति, सुख और संतोषके साथ नहीं बीता है। अनेक बार सम्बन्ध-विच्छेदकी कल्पना किया करता हूँ, गुरुदेव! आश्चर्य है, आपने मेरे असंतोषको कैसे पहचान लिया?'

'कोई हर्ज नहीं, तुम अपनी समस्या कहो?'

'भगवन्! क्षमा करें। मैं अपनी धर्मपत्नीसे संतुष्ट नहीं हूँ।'

'आखिर क्यों? कोई कारण तो होगा ही उसका?'

'जी, उसके और मेरे स्वभाव, रुचि, आदतों और मानसिक विकास—सबमें भारी असमानता है। उसीको लेकर दाम्पत्य-जीवनमें परस्पर अनबन बनी रहती है। उसे

सही रूपमें काम करना नहीं आता। वह मेरा अनुशासन नहीं मानती। बहुत परीशान करती रहती है वह। क्या करूँ कि मेरा दाम्पत्य-जीवन सुख-शान्तिमय हो जाय?' वह दुःखपूरित स्वरमें प्रार्थना करने लगा।

जिज्ञासु व्यक्ति उत्तरके लिये कबीरदासका चेहरा निहारने लगा।

'ठहरो, अभी समझाता हूँ। लेकिन कुछ देर ठहरना होगा!'

'कोई हर्ज नहीं।'

कबीरदास फाटक खोल भीतर चले गये।

आगन्तुक कल्पना कर रहा था कि उन्हें कबीरके मुँहसे दाम्पत्य-जीवनकी सफलतापर कोई लंबा भाषण सुननेको मिलेगा, जिससे पत्नीसे उसकी कटुता और पारिवारिक कलह दूर हो ही जायगी; काले मेघोंमेंसे निकले सूर्यके समान तनावका दूषित वातावरण समाप्त हो जायगा। शायद वे उसे अपनी पत्नीकी भर्त्सना करनेकी सलाह देंगे।

थोड़ी देर बाद कबीर अंदरसे सूत लेकर लौटे। सूत कातकर जो कुछ मिलता था, उससे वे जीवनका निर्वाह करते थे।

वे उस व्यक्तिके सामने जैसे-के-तैसे निःसंकोच भावसे बैठ गये और सूत कातनेकी तैयारीमें लग गये।

दो-तीन मिनटके उपरान्त बोले—

'अजी, बड़ा अँधेरा हो रहा है। मुझे सूत कातना है। इधर सूत कातनेमें कठिनाई अनुभव हो रही है। जरा तुम्हें तकलीफ तो होगी, दीपक जलाकर रख जाओ।'

अभी काफी अँधेरा नहीं हुआ था। साधारण काम करनेके लिये यथेष्ट उजाला था।

'इस उजालेमें भी कबीर दीपक मँगवा रहे हैं? प्रकाशमें भला, दीपकसे क्या करेंगे? दिनमें दीपकके मद्धिम प्रकाशकी क्या उपयोगिता है? जरूर ये सोचनेमें कोई गलती कर रहे हैं। चाँदनेमें दीपक! अजीब मूर्खता है।' यह सोचकर वे व्यक्ति मन-ही-मन कबीरकी मूर्खतापर हँसने लगे!

थोड़ी देरमें उस व्यक्तिने देखा एक सीधी-सादी भारतीय महिला अंदरसे दीपक जलाकर लायी और जहाँ कबीर सूत सुलझा रहे थे, वहाँ चुपचाप रख गयी!

शामको ही दीपक! प्रकाशमें ही यह टिमटिमाती रोशनी! दिनके चाँदनेमें ही—समयसे पूर्व ही दीपक जला लायी! इस औरतने प्रतिवाद नहीं किया कि 'दिनमें ही, भला, मुझसे दीपक क्यों जलवाकर मँगवाया है?' कबीरकी धर्मपत्नी भी उन्हींकी तरह मूर्ख दीखती है। सूर्यके प्रकाशमें ही दीपक जलाकर ले आयी। यह नहीं कहा, 'अभी घंटेभर दिन शेष है? दीपककी अभीसे क्यों जरूरत पड़ गयी!'

थोड़ी देर बाद उनकी धर्मपत्नीने पुनः प्रवेश किया। इस बार उसके हाथोंमें दो गिलास थे, जिसमें दूध भरा हुआ था।

'लीजिये, दूध पीजिये। हमारा आतिथ्य ग्रहण कीजिये।' एक गिलास आगन्तुकके आगे बढ़ाती हुई वह स्त्री बोली।

वे दोनों दूधकी चुस्कियाँ ले रहे थे। तबतक गृहपत्नी अंदर चली गयी थी।

थोड़ी देर बाद वह फिर लौटी। ओ, इतनी जल्दी फिर वापस?

'जी, दूधमें मीठा तो कम नहीं रह गया है?' गृहपत्नीने पूछा।

'नहीं, पर्याप्त चीनी है हमारे लिये।' कबीरने मधुर मिश्री-सी वाणीमें उत्तर दिया। वे दूध उसी भावसे पीते रहे।

संयोगकी बात—

उनकी पत्नीकी दृष्टि कमजोर थी। सफेद रंगकी भूलमें बेचारी पत्नीने शक्करके स्थानपर दूधमें नमक डाल दिया था।

नमकीन दूधको ही पीकर कबीर दूधमें काफी मीठा बता रहे थे!

उस व्यक्तिने मन-ही-मन सोचा, 'कबीरदासजी भी अजीब मूर्ख आदमी हैं। कह रहे हैं, दूधमें मीठा काफी है, जब कि दूधमें कतई भी मिठास नहीं है। नमक तथा चीनीमें ये अन्तर नहीं समझते! बड़े विद्वान् बने फिरते हैं। इनसे, भला, सुखी दाम्पत्य-जीवनका रहस्य क्या मालूम होना है? मैं भी कहाँ भूलकर गृहस्थ-जीवनकी शिक्षा लेने चला आया!'

इधर वह आगन्तुक झल्ला रहा था, उधर कबीरदास नमकीन दूध पीकर मुँह पोंछ रहे थे।

'महाराज, मेरे प्रश्नका उत्तर मिल जाता तो मैं घर चला जाता।'

'अरे भाई, समझा तो दिया तुम्हें!'

'जी, अभीतक तो सुखी दाम्पत्य-जीवनके बारेमें आपने एक शब्द भी नहीं कहा है।'

'क्या और कुछ कहना शेष है ?'

'महाराज, स्पष्ट कहिये। यों कुछ समझमें नहीं आता। मेरी धर्मपत्नीसे पटती नहीं। कैसे सुखी रहें ?'

'मेरा उदाहरण देखो। सुखी दाम्पत्यके लिये यह आवश्यक है कि सदस्योंको अपने अनुकूल बनाओ, पर स्वयं भी परिवारके अनुकूल ढलो। दोनों बदलो। कुछ तुम पत्नीकी सहन करो, कुछ आपकी पत्नी आपकी बात मानें। यह पारस्परिक सद्भाव, अपने साथीके प्रति पूरा और सच्चे हृदयसे प्यार समुन्नत गृहस्थकी आधार-शिला है।'

'प्यारका क्या तात्पर्य है ?'

'साथीके दोषों और गलतियोंको सहानुभूतिपूर्वक क्षमा करते रहना। देखो, यदि आपसमें मतभेद या कोई गलत-फहमी हो भी जाय तो जल्दी-से-जल्दी उसे दूर करनेका प्रयत्न कीजिये। अहंभावसे बचिये। सरलता, मधुर भाषण और क्षमाशील स्वभावसे दाम्पत्य-जीवनके सूखते हुए वृक्षमें भी सरसता आ सकती है।'

'मैं तो कभी-कभी उसपर संदेह कर उठता हूँ।'

'यही कमजोरी है। एक दूसरेपर अविचल विश्वास रखिये। संदेहको पनपाकर ही अनेक दाम्पत्य-परिवार आज कष्ट भोग रहे हैं। इसलिये अच्छे दाम्पत्यके लिये संदेहके विषवृक्षको तो पनपने ही मत दीजिये। सब परिस्थितियोंमें एक-दूसरेका पूरा साथ दीजिये। कष्टोंको साथ सहकर और सुखोंके दिन भी साथ रहकर काटिये। बीमारी, पीड़ा, दुखी मानसिक स्थितिमें एक-दूसरेका पूरा-पूरा साथ दीजिये।'

'मैं तो उसकी टीका-टिप्पणी कर बैठता हूँ ? क्या करूँ ?'

'यथासम्भव एक-दूसरेकी आलोचनासे बचिये। कमजोरी और दोष किसमें नहीं हैं ? सर्वगुणसम्पन्न कौन है ? यदि आप परिवारमें सुख और शान्ति चाहते हैं तो दूसरोंमें दोष ढूँढनेकी आदत आज ही त्याग दीजिये। दोष निकालते रहनेसे परस्पर कटुताकी भावना पैदा होती है।'

'समझ गया महात्मन्! बस, अब तो निष्कर्ष रूपमें पूरेका सार कह दीजिये।' वह व्यक्ति पूछने लगा।

'सुनो, शास्त्रोंमें जो कहा गया है, वह सुखी दाम्पत्यका सार ही है:—

मा भेर्मा संविक्था ऽऊर्जं धत्स्व धिषणे विड्वी सती वीडयेथा मूर्जं दधाथाम्। पाप्मा हतो न सोमः ॥

—यजुर्वेद ६। ३५

'इसका क्या अर्थ है, महात्मन्?'

'इसका मतलब है कि पति-पत्नी परस्पर ऐसा व्यवहार करें, जिससे उनका पारस्परिक भय और उद्वेगका कलुषित भाव नष्ट हो जाय। दोनोंकी आत्माओंकी एकता बढ़े। आपसी विश्वास, दृढ़ता और उत्साह बने रहें। इससे गृहस्थाश्रममें ही स्वर्गीय सुखकी अनुभूति होती है। याद रखो, एक-दूसरेके दोषोंका दर्शन और कटु आलोचनाएँ दाम्पत्य-जीवनका विष है।'

'अब मेरे मनकी शङ्काएँ समाप्त हो गयीं! मैं इन सूत्रोंको सदा व्यवहारमें लाऊँगा।' कहकर वह व्यक्ति चला गया।

श्यामसे विनय

स्याम हौं तुमरे गरे परौ।
जो बीती तुमही सौं बीती, मन मानै सो करौ॥
करी अनीति कछू मित नाहीं, नख-सिख देखि भरौ।
मो तन चितै आप तन चितवौ, अपने बिरद ढरौ॥
कीजै लाज सरन आप की, जिनि जिय दोष धरौ।
अपनी आँध उघारैं नहिं सुख, तुमहीं लाज मरौ॥
बिनती करौं काहि हौं, मिलि कै सब कोउ कहत बुरौ।
'रसिकदास' आसा करुनानिधि तुमहिं ढरौ सौ ढरौ॥

—भक्त श्रीरसिकदासजी

वैष्णव-साधनाके महान् व्याख्याता श्रीरूप गोस्वामी

(लेखक—डॉ० श्रीमुन्नालालजी उपाध्याय 'शुकरत्न')

मानवीय मनकी रागात्मिका वृत्तिके स्पन्दनद्वारा महान्-से-महान् कार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं। भारतके इतिहासमें प्रेममूलक भक्ति-आन्दोलनद्वारा जन-जीवन-समुद्रका अपूर्व मन्थन हुआ है। मुसल्मानोंके आक्रमण और दुर्धर्ष अत्याचारोंके साथ ऐसा लगा कि यह दुर्दान्त शक्ति कहीं भारतवर्षकी उत्कृष्टतम उपलब्धियोंको कुचलकर तो नहीं रख देगी; किंतु उस समय वैष्णव-धर्मने ही इस अनुभववृद्ध देशके लोक-मानसको उस भयंकर तूफानके आगे खड़े रहनेकी शक्ति प्रदान की। उस समय जैन, बौद्ध, शक्ति तथा तान्त्रिक आदि अनेक मतोंद्वारा निरूपित विरक्ति तथा भोगकी अतिवादिताओं एवं अतिरञ्जनाओंका अतिक्रमण कर वैष्णव धर्मने एक नया प्रकाश दिया था।

वैष्णव-साधनाद्वारा विकसित जीवन-दृष्टि प्रवृत्तियोंके हननके स्थानपर मनुष्यकी विराट् एकता और जिजीविषाका पूरी ईमानदारीके साथ सम्मान करती है। वैष्णव-साधनामें जीवनके प्रति इस ज्वलन्त रागने नृत्य, संगीत, शिल्प-कला और संस्कृतिमें अपूर्व सरसताकी सृष्टि करते हुए, रससिक्त विपुल साहित्य-राशिके सृजनको प्रेरित और प्रोत्साहित किया। इस साधनाको अत्यन्त रसमय, भव्य और व्यवस्थित बनानेमें श्रीरूप गोस्वामीका योगदान महत्त्वपूर्ण है।

श्रीरूप गोस्वामी (१६वीं शताब्दी) को वैष्णव-साधना और भक्ति-रस-धाराका सार्थवाहक मानना चाहिये। उन्होंने अपनी प्रतिभा और कल्पनाके सहारे अनेक नये प्रसङ्गों, नयी लीलाओं एवं कथन-भङ्गिमाओंका केवल समावेश ही नहीं किया है, प्रत्युत इस सारी परम्पराको एक नयी दिशा भी दी है। रस-सिद्धान्तपर वैष्णव-साधनापरक, किंतु मनोविज्ञानसम्मत महाभाष्य करते हुए, अचानक ही सौन्दर्यबोधानुभवकी एक नयी भूमि खोज निकाली है। उनके विवेचनमें कामका आध्यात्मिकीकरण और भक्ति-सिद्धान्तकी सारी रहस्यमणियाँ हस्तामलकवत् दिखायी पड़ती हैं, जैसे कोई भक्ति-जगत् एवं कृष्णलीलाकी अन्तश्चेतनाकी जीवनी लिख रहा हो। उन्होंने सामन्तीय स्फूर्ति और भारतीय मध्यकालीन मानसको ह्लादिनी शक्तिके आह्लादमें प्रतिबिम्बित करके देखा है।

उनकी रचनाओंमें पारिभाषिक शब्दावली एवं सामान्य धारणाओंको परम्पराप्राप्त साहित्यसे उठाकर सम्पूर्ण अलंकार-शास्त्रको कृष्ण-रतिकी ओर किस प्रकार मोड़ा गया है, किस पद्धतिसे तमाम विस्तृतियोंका सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए, उन समस्त कथनोंको नाना स्रोतोंसे समर्थित, अनुमोदित एवं सैकड़ों उदाहरणोंद्वारा पुष्ट किया गया है, यह किसी भी सहृदय समीक्षकके लिये आश्चर्यका विषय हो सकता है। सर्वत्र धार्मिक, शृङ्गारिक, काव्यशास्त्रीय, सौन्दर्यबोधात्मक एवं वैष्णव-साधनामय अनुभवोंका गूढ़, किंतु रमणीय प्रक्षेपण हुआ है। प्रभुसम्मित, सुहृत्सम्मित एवं कान्तासम्मित बोधोंके अखण्डैकव्यापार तथा मानवीय मनके रससिक्त भावोंकी कमनीय प्रतिष्ठा हुई है।

गौडदेश (बंगाल) के तत्कालीन शासक हुसेनशाहके मन्त्रीपद एवं सांसारिक समस्त वैभवको तुच्छ तृणकी तरह त्यागकर, महाप्रभु चैतन्यकी आज्ञासे व्रजमें जाकर श्रीकृष्ण-प्रेममें डूबे हुए रूप गोस्वामीने वैष्णव-साधनापरक एवं भक्तिशास्त्रीय ग्रन्थोंके प्रणयन तथा व्रजतीर्थोंके उद्धारमें ही अपना सारा जीवन लगा दिया। श्रीवल्लभाचार्य तथा हरित्रयीके नामसे प्रसिद्ध स्वामी हरिदास, श्रीहित हरिवंश एवं श्रीहरिराम व्यास भी उसी समय व्रजमें भगवत्प्रेमकी वर्षा कर रहे थे। यह अत्यन्त प्रसिद्ध है कि मीरा भी रूप गोस्वामीकी साधनासे अत्यन्त प्रभावित तथा आकृष्ट हुई थीं।

श्रीरूप गोस्वामीकी साधना, विवेचना एवं दिनचर्या व्रजमें रहनेवाली भक्तमण्डलीके लिये कितनी आकर्षक और प्रेरणा तथा प्रभावका केन्द्र थी, उनके समसामयिक श्रीहरिराम व्यासके एक पदसे इसकी कुछ झलक मिल सकती है—

साधु-सिरोमनि रूप-सनातन ॥
जिन की भक्ति एकरस निबही, प्रीति कृष्ण-राधा तन।
जिन कौ काज सँवारयों चित दै, हित कीनौ छिन ता तन ॥

जिन के विषय बासना देखी, मनसा करी न नातन ।
(श्री) वृन्दावन की सहज माधुरी रोम-रोम सुख गातन ॥
सब तजि कुंज-केलि भज वह निसि अति अनुराग सदा तन ।
तृनहु ते नीचे, तरुहुँ ते सहकर, अमानी, मान सुहात न ॥
असिधारा-व्रत ओर निबाह्यो, तन-मन कृष्ण-कथा तन ।
करुणासिंधु कृष्णचैतन्य की कृपा फली दुहुँ भ्रातन ॥
तिन बिनु व्यास अनाथ भए, अब सेवत सूखे पातन ॥

इसी प्रकार समसामयिक तथा परवर्ती अनेक संत, साधक, भक्त और लेखकोंने श्रद्धा और आदरपूर्वक उनका स्मरण किया है । चैतन्य-सम्प्रदायमें महाप्रभु चैतन्यके बाद वे सर्वाधिक आदरणीय और साधना-पथके प्रिय उपदेष्टा हैं । उनके नामपर ही चैतन्य-सम्प्रदायको 'श्रीरूपानुग-ब्रह्म-माध्व-गौडीय सम्प्रदाय' भी कहा जाता है । 'श्रीरूपानुग-भजनसम्पत्', 'श्रीरूपानुगभजनप्रणाली' आदि नाम उपासना-क्षेत्रमें अत्यन्त लोकप्रिय हैं । उनको 'व्रजरस' और 'श्रीकृष्ण-प्रीति-प्राप्ति' में परम सहायक रूपमञ्जरीका अवतार माना गया है । श्रीरूप यद्यपि सनातनके छोटे भाई थे, फिर भी प्रभुके प्रथम कृपापात्र होनेसे ये वैष्णव-समाजमें सनातनसे पहले ही स्मरण किये जाते हैं । इसलिये सभीकी जिह्वापर रूप-सनातन नाम प्रचलित है, सनातन-रूप नहीं । साधक जन्म-जन्ममें रूप गोस्वामीके चरणोंकी धूलिका स्थान पानेकी प्रार्थना करते हैं—

आदाय दानस्तृणं दन्तैरिदं याचे पुनः पुनः ।
श्रीमद्रूपपदाम्भोजधूलिः स्यां जन्म-जन्मनि ॥

महाप्रभु चैतन्यपर उनकी कविताके अद्भुत प्रभाव और श्रीराधाके चरणदास्यकी प्राप्तिमें भी श्रीरूप गोस्वामीके सङ्गको अनिवार्य बताते हुए गोवर्द्धन भट्ट लिखते हैं—

तुण्डे ताण्डवनीतिसुल्यललितश्लोकावलीं यत्कृतां
मुक्ताभान्यतुलाक्षराणि च हरिर्गौरो विलोक्योन्मदः ।
घूर्णन् भक्तवृतो ननर्त सहसा यं सम्मोदं स्तुवन्
को राधापददास्यमत्र लभते तं रूपसङ्गं विना ॥
(रूप-सनातन-स्तोत्र)

श्रीरूप गोस्वामीके सम्बन्धमें इस प्रकारके उल्लेख सैकड़ोंकी संख्यामें प्राप्त होते हैं, जिनका संग्रह करनेपर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ बन सकता है ।

वैष्णव-साधना भारतीय मनीषाकी मधुरतम उपलब्धि है । अन्य साधनाओंकी तरह वैष्णव रागशमनमें विश्वास नहीं करते; वे शमनके स्थानपर रागात्मक-जीवनका विकास करनेवाली साधना-पद्धतिका उपदेश करते हैं । फलतः वैष्णव-साधनाका स्वरूप भक्ति-वल्लरीके उद्भव और विकास-का इतिहास है । भक्ति-साधनाके सम्पूर्ण इतिहासमें केवल श्रीरूप गोस्वामीका व्यक्तित्व ही ऐसा है, जिसने भक्तिको उसकी गरिमाके अनुकूल रसरूपमें प्रतिष्ठित करनेवाली गरिमामयी ग्रन्थ-राशिको जन्म दिया । श्रीरूप गोस्वामी चैतन्य-सम्प्रदायके हृदय और मस्तिष्क दोनों हैं । वे हृदयसे हैं सरस कवि और मस्तिष्कसे हैं वैष्णव-साधनाके तलस्पर्शी व्याख्याता और व्यवस्थापक । उनके द्वारा विरचित प्रमुख ग्रन्थ हैं—भक्तिरसामृत-सिंधु, उज्ज्वल-नीलमणि, नाटक-चन्द्रिका, विदग्ध-माधव, ललितमाधव, दानकेलि-कौमुदी, उद्धव-संदेश, हंसदूत, स्तवमाला, पद्यावली, लघुभागवतामृत, गणोद्देशदीपिका (बृहत् और लघु), मथुरा-महिमा, उपदेशामृत, स्मरण-मङ्गल-स्तोत्र और निकुञ्ज-रहस्यस्तव ।

भजनानन्द-रस ही चिन्मय भक्त-जीवका सर्वस्व है । अन्य-निरपेक्षता, सार्वत्रिकता एवं सदातनत्वके कारण भक्ति सर्वसाधनगरीयसी है । ज्ञानयोगादिकी अपेक्षा भक्तिमें भगवदुपलब्धिका उत्कर्ष है । यही साध्य वस्तुकी अवधि और बीचका एकमात्र प्रयोजन-तत्त्व है । प्रेमभक्तिकी अलौकिक कस्तूरी वितरित करनेवाले महाप्रभु चैतन्य-के जीवनमें उद्वेलित भक्तिके महान् रस-सागरके प्रत्यक्ष द्रष्टा श्रीरूप गोस्वामीने रस-शास्त्रकी प्राचीन परम्परा-को धार्मिक-भाव और वैष्णव-साधनासे मिलाकर भक्तिको रसरूपमें प्रतिष्ठित किया । रूप गोस्वामीके पहलेकी कृतियाँ भक्ति-रसका सम्पूर्ण निर्वचन नहीं करतीं । जिस प्रकार भामह अलंकार-शास्त्रके आचार्य माने जाते हैं, अथवा जिस प्रकार वामनने रीति, कुन्तकने वक्रोक्ति, आनन्दवर्धनने ध्वनि एवं क्षेमेन्द्रने औचित्यकी प्रतिष्ठा की है, उसी प्रकार श्रीरूप गोस्वामीको शास्त्रीय-दृष्टिसे भक्ति-रसके प्रतिष्ठापक होनेका गौरव प्राप्त है ।

उनका भक्ति-रसामृतसिन्धु भक्ति-रसका प्रधान ग्रन्थ है । इसमें भक्ति-रससे सम्बन्धित उन सभी प्रश्नोंपर विचार किया गया है, जिनसे वह साहित्य शास्त्रीय

प्रणालीके अनुसार, निर्वाधरूपसे रसके स्थानपर प्रतिष्ठित हो सके। भक्ति-रसकी मुख्यता एवं उसके भेद-प्रभेदोंका विवेचन नितान्त मौलिक तथा वैष्णव-जगत्के लिये एक नवीन घटना है। यह वैष्णव-साधना और भक्ति-शास्त्रके इतिहासमें अपने-आपमें अजर, अमर और अप्रतिम ग्रन्थ है। वस्तुतः इसको भक्ति-रस-सिद्धान्तका विश्वकोष कहना अनुचित न होगा।

वैष्णवोंने मनुष्यके सम्पूर्ण रागात्मक-जीवनका विषय भगवान्‌को बनाकर उसे दिव्यरागमें परिणत करनेपर बल दिया है। तदनुसार श्रीरूप गोस्वामीने उज्ज्वल-नीलमणिमें शृङ्गारात्मक मधुर-रसका विशद प्रतिपादन किया है। इसमें मधुर-रसके नायक (श्रीकृष्ण), नायिका (श्रीराधा), गोपियाँ, सखी, यूथेश्वरी आदि परिकरोंकी विविध मनःस्थितियों, परिस्थितियों, क्रिया, चेष्टा, वचन आदिका मार्मिक विवेचन और उद्घाटन, विभाव, अनुभाव, संचारीभाव, स्थायीभाव आदिका वैष्णव-साधनाके अनुरूप मौलिक, सूक्ष्म और विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण प्राप्त होता है। गोपी और सखियोंका वर्गीकरण, यूथेश्वरी-भेद, श्रीराधाकी सर्वोपरि प्रतिष्ठा, स्थायीभाव एवं महाभाव-का विलक्षण वर्णन—ये सभी उनकी प्रतिभाकी मौलिक उपलब्धियाँ हैं। रूप गोस्वामी कवि तथा आचार्य दोनों ही थे, साथ ही विराट् प्रतिभाके धनी एवं नितान्त निष्ठावान् साधक। उनके आलंकारिक और कविसृजनने सम्मिलित होकर, प्रेमतत्त्वका सूक्ष्म, सुकुमार विश्लेषण और समुचित उदाहरणोंका प्रस्तुतीकरण—इन दोनोंको ही सम्भव किया था। प्रेमकी नाना अवस्थाओंके चित्र, हृदयके गहरे भावोंके विवरण तथा हृदयकी क्षण-क्षणमें उदीयमान वृत्तियोंके गम्भीर मनोवैज्ञानिक परीक्षणमें रूप गोस्वामीकी प्रतिभाकी अपूर्वताका दर्शन होता है।

भक्ति-रसके शृङ्गारमूलक मुख्यरसके प्रस्थापनमें इसका सर्वाधिक महत्त्व है। यह अपने विषयका नितान्त मौलिक और हृदयावर्जक ग्रन्थ है। वैष्णव-साधना और साहित्य-संसारको यह रूप गोस्वामीकी सबसे बड़ी देन मानी जानी चाहिये। वस्तुतः यह नायक-नायिकाओंके शृङ्गार, वेश-भूषा, सज्जा, रंगों, रागों, भावों आदिका एक संदर्भात्मक वैष्णव शृङ्गार-ग्रन्थ-सा बन गया है। भरतके नाट्यशास्त्रके बाद यह दूसरा समर्थसौन्दर्य-तत्त्वविषयक संदर्भ-ग्रन्थ है। उनकी ये दोनों ही अमर कृतियाँ निश्चित ही अभूतपूर्व हैं। इनमें वैदुष्य है, शास्त्र-ज्ञान है, चिन्तन है, साधना है, सर्जनात्मक प्रतिभा और विवेचनी मनीषाका अपूर्व योग है। निस्संदेह समस्त भारतीय साहित्यमें ये ग्रन्थ अपने विषयके निराले, अन्यतम तथा विषय-प्रतिपादनकी दृष्टिसे स्वयं अपनेमें पर्याप्त हैं। ये उस मूलस्रोत अथवा मानसरोवरके सदृश हैं, जहाँसे अनेक अविच्छिन्न धाराएँ निकलकर बहती हैं।

रूप गोस्वामीका उद्देश्य भक्ति-रसकी सर्वाङ्गपूर्ण प्रतिष्ठा करना था। इसके लिये उन्होंने विविध दिशाओंमें प्रयत्न किया। रसका सम्बन्ध मुख्यतः नाट्यसे है। आचार्य रुद्रटके पूर्वतक तो एकमात्र नाट्यसे ही रसका सम्बन्ध माना जाता था। वैष्णव आचार्यको निज ध्येय-प्राप्तिमें इस अभावका अनुभव हुआ और उन्होंने वैष्णव-रस-शास्त्रके अनुकूल 'नाटक-चन्द्रिका' एवं नाटकद्वय (विदग्ध माधव, ललित-माधव) की रचना की।

'नाटक-चन्द्रिका'को हम नाट्य-शास्त्रका मधु-संचय कह सकते हैं। अपने सिद्धान्तानुसार उसको सुस्वादु रूपमें प्रस्तुत कर देना—यही उसकी मौलिकता है। वैष्णव-साधना और भक्ति-रसके क्षेत्रमें यह अत्यन्त मौलिक प्रयास है।

'विदग्ध-माधव' व्रजलीला-वर्णनसे सम्बन्धित है, जिसमें रस-परिपाककी दृष्टिसे कविद्वारा अनेक नवीन प्रकल्पनाएँ की गयी हैं। इसमें नाटकके माध्यमसे वैष्णव-साधनाका परम रसमय चित्रण है। सर्वत्र एक भावुकतापूर्ण निःश्वास व्याप्त है। श्रीराधाके माध्यमसे परमसत्ताकी अनुभूतिसे सम्बन्धित मानवात्माके प्रयासको पूरे आवेगके साथ व्यक्त किया गया है। अलौकिक प्रेमके शक्तिशाली चित्रसे मण्डित यह एक महान् नाटक है।

'ललित-माधव' श्रीकृष्णकी द्वारकालीलासे सम्बन्धित है। प्रस्तुत नाटकमें मधुर-रस-साधनासे सम्बन्धित संकेत-सूत्रों-को उन्होंने अधिक सावधानीसे सँजोया है। इसमें साधकके लिये शारीरिक अथवा मानसिक रूपसे व्रजवासकी आवश्यकता, गोकुलवासियोंद्वारा रसिक-शिरोमणि श्रीकृष्णकी प्राप्तिकी सुलभता, परकीयाभावका कुशलतापूर्वक समर्थन, वेदान्तियोंकी निर्विशेष-ब्रह्मानुसंधानरूप मुक्तिकी तुच्छता तथा वैष्णवोंकी चरम उपलब्धि आदिका प्रमुदित होकर नाटकीय पद्धतिसे हृदयावर्जक रूपसे उपस्थित किया गया है। विप्रलम्भ-

रसपोषक 'दानकेलिकौमुदी'में भी मधुर-रसका ही मर्मस्पर्शी चित्रण है।

उनके 'उद्धव-संदेश' और 'हंसदूत'में श्रीकृष्ण-वियोगमें साधककी प्राणद्रावक स्थिति और विरहप्रधान संदेश-काव्योंकी मधुरिमाकी घुलन है। रूप गोस्वामीके ये दोनों ही काव्य श्रीकृष्ण और गोपियोंकी भक्ति-भावनासे भीगे हुए, अन्तरतमकी सहज और तीव्र आकुलतासे व्याप्त श्रीराधाकी मर्मद्रावक दशाओंके पुरस्कर्ता, प्रेम-जगत्के सारभूत महाभावकी अनेक स्थितियोंके उद्घाटक और भक्तिशास्त्रोंकी चरमनिष्ठा आत्मसमर्पणके वर्णनसे पूर्ण हैं।

श्रीराधा-कृष्णकी ललित गीतियों एवं स्तुतियोंसे युक्त 'स्तवमाला' भक्तके दैन्यपूर्ण मृदुभावोंकी प्रसाद और मधुरगुणयुक्त शब्दोंमें ग्रथित वनमाला है, जिसमें भक्त-हृदयके गहरे भाव व्यक्त किये गये हैं। 'पद्यावली'में वैष्णव कविताओंका दुर्लभ संकलन है। रसपूर्ण भावों एवं साधनाके विविध स्तरों और मान्यताओंको व्यक्त करनेवाले ये दोनों ही ग्रन्थ वैष्णवोंके परमधन हैं।

'उपदेशामृत', 'निकुञ्जरहस्यस्तव' आदि लघुकाय ग्रन्थ वैष्णवोंके मार्गदर्शक तथा साधकोंके लिये श्रीकृष्णके नित्यपरिकरोंकी आनुगत्यमयी सेवामें लीला-स्मरणकी दृष्टिसे अत्यन्त सहायक हैं। 'लघुभागवतामृत'के 'कृष्णामृत' और 'भक्तामृत' नामक दोनों खण्डोंमें अवतारवाद, भगवत्तत्त्व, प्रभु श्रीकृष्णकी सर्वातिशयिता और भक्तोंमें गोपियों एवं श्रीराधाकी सर्वोपरि प्रतिष्ठाकी विस्तृत समीक्षा और पूर्ण विवेचना की गयी है।

परिकर भी स्वरूप-शक्तिका ही प्रकाश होनेके कारण नित्य तथा अप्राकृत हैं। विभिन्न लीलाओंको समेटनेके कारण 'गणोद्देशदीपिका' (बृहत् और लघु) में परिकरोंकी एक विराट् कल्पना रूप गोस्वामीने की है। वैष्णव-साधनामें लीला-रसके आस्वादनके लिये धामका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। श्रीकृष्णके सदृश ही उनके धाम, परिकर आदि भी प्रकाश-भेदसे अलग-अलग स्थानोंपर प्रकाशित हैं। महाप्रभुने रूप गोस्वामीको व्रजतीर्थोंके उद्धारका काम सौंपा था। धामके वर्णन तथा व्रजतीर्थोंके उद्धार-कार्यके आधार-ग्रन्थके रूपमें अनेक पुराणोंसे आवश्यक वचनोंका संग्रह करके उन्होंने पृथक्-रूपसे 'मथुरा (मधुरा)-महिमा'की भी रचना की।

इस प्रकार वैष्णव-साधनासे सम्बन्धित नाम, रूप, लीला, धाम, भक्ति-रस-सिद्धान्त, मधुर-रस और लक्ष्य-ग्रन्थोंकी भी रचना कर, रूप गोस्वामीने किसी भी समस्याको छोड़ा नहीं है। उनका यह प्रदेय कितना अपूर्व, अप्रतिम और युगान्तकारी है, इसका मूल्याङ्कन उनके समसामयिक और परवर्ती किसी भी सम्प्रदायके वैष्णव-साधकोंकी रचनाओंपर पड़नेवाले प्रभावसे आँका जा सकता है। मधुसूदन सरस्वती और पण्डितराज जगन्नाथ-जैसे अपने क्षेत्रके अद्वितीय मनीषियोंकी रचनाओंमें भी उनके प्रभावको देखा गया है।

उनमें काव्य-शास्त्रकी आचार्य-चेतना, दार्शनिक एवं कवि-चेतनाका दुर्लभ समन्वय हुआ था। वे एक साथ ही दार्शनिक, कवि, मनीषी, आचार्य और सबसे बढ़कर श्रीकृष्ण-चरणोंमें सर्वथा समर्पित भागवत-शिरोमणि हैं। संसारमें इन अनेक विशेषताओंका एकत्र समागम विरल है। वैष्णवधर्म और संस्कृतके बहुत थोड़े-से चुने हुए कवि, आचार्य और भक्तोंमें उनका स्थान है। उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व, तपोमय जीवन, प्रकाण्ड पाण्डित्य, अद्भुत अभिव्यञ्जना-शैली, अपार भाव-सम्पत्ति और साधनासे वैष्णव-धर्म और संस्कृत-साहित्य दोनों ही उपकृत हुए हैं।

श्रीजीव गोस्वामीने 'श्रीरूपगोस्वामिगुणलेशदशकम्' की रचना की है, जिसमें उनके अनेक असाधारण गुणोंका वर्णन है। वे एक पद्यमें उनको समुद्रसे भी अधिक गम्भीर, चन्द्रमासे भी अधिक शीतल, भूमिसे भी अधिक सहनशील और बृहस्पतिसे भी अधिक कवित्व-शक्ति-सम्पन्न स्वीकार करते हैं। श्रीगोवर्द्धन भट्टने 'रूप-सनातन-स्तोत्र'के ४८ पद्योंमेंसे ४० पद्योंमें केवल रूप गोस्वामीके काव्य-वैभव, आचरण और व्यक्तित्वकी ही चर्चा की है। उन्होंने लिखा है—'व्यक्ति तभीतक कर्म, योग, न्यायशास्त्र और ब्रह्म-चिन्तनमें लग सकता है, जब-तक उसने श्रीरूपके ग्रन्थोंका अध्ययन नहीं किया है। उन्होंने मरुभूमिमें ऊँचे गृहका निर्माण करने, अपने बाहुओंके द्वारा आकाशका स्पर्श करने, प्रचुर रजःकणोंके द्वारा सूर्यको ढकने और पङ्गुके द्वारा पहाड़पर चढ़नेके समान, श्रीरूपके पद-कमलके आश्रयके बिना श्रीराधाके चरणोंके दास्यकी उत्सुकता तथा प्राप्तिको असम्भव बताया है।'

कृष्णदास कविराज अपने महान् ग्रन्थ 'चैतन्य-चरितामृत'के प्रत्येक परिच्छेदके अन्तमें श्रीरूप गोस्वामीके चरणोंका स्मरण करते हैं। व्रजभाषाके अनेक कवियोंने अतिविनम्रतापूर्वक उनका स्मरण किया है। विश्वनाथ चक्रवर्तीने उनकी 'वाणीको अमृतकी दिव्य नदी' कहा है। कवि कर्णपूर गोस्वामी उनको 'मूर्तिमान् शृङ्गार' और ब्रह्मसूत्र-भाष्यकार बलदेव विद्याभूषण उनको 'सत्कवित्वमें देवाचार्य (बृहस्पति), तत्त्वज्ञानमें महर्षि व्यास और शृङ्गारार्थव्यञ्जनामें शुकदेव-सदृश स्वीकार करते हैं।'

देवाचार्यं यं विदुः सत्कवित्वे पाराशर्यं तत्त्ववादे महान्तम्।
शृङ्गारार्थव्यञ्जने व्याससूनुं स श्रीरूपः पातु नो भृत्यवर्गान्॥

(लघुभागवतामृत-टीका)

श्रीभक्तिवेदान्त सरस्वती सारे यूरोपमें रूप गोस्वामी-द्वारा व्यवस्थापित और व्याख्यात वैष्णव-साधनाका ही प्रचार करनेमें लगे हैं और उसका आकर्षण सम्पूर्ण विश्वमें चर्चाका विषय बना हुआ है।

भगवत्प्रार्थनाका स्वरूप एवं आदर्श

(लेखक—पं० श्रीजयकान्तजी झा)

कुछ लोग सोचते हैं कि अमुक शब्द, अमुक भजन अथवा अमुक पदको किसी विशेष रीतिसे बोलने या गानेको ही 'प्रार्थना' कहेंगे। दूसरे लोग कहते हैं कि लक्ष्मी, वैभव, अधिकार, यश, संतान-प्राप्ति अथवा ऐसी ही किसी सांसारिक एषणाकी सिद्धिके लिये ईश्वरसे नम्रतापूर्वक याचना करना ही 'प्रार्थना' है। यदि इन अर्थोंमें हम प्रार्थनाको लेते हैं तो हमारी प्रार्थनाका मूल्याङ्कन बहुत ही अपूर्ण और निम्नकोटिका है।

ध्यानपूर्वक मनन करनेपर ज्ञात होता है कि मनुष्यकी सर्वोच्च शक्तियोंका परमात्मशक्तिके साथ तादात्म्य ही मानव-जीवनके उत्कर्षकी चरम सीमा है। इस अन्तिम ध्येयपर पहुँचनेके लिये जो क्रियाशील प्रवृत्ति है, वही हमारी 'प्रार्थना' है।

देह, चित्त और आत्माके पूर्ण समन्वयात्मक ऐक्यसे उत्पन्न अपूर्व आनन्द, शान्ति और अपार बलका अनुभव हमको प्रार्थनामें ही मिलता है। प्रार्थना एक ऐसी शक्तिका तेजपूर्ण केन्द्र है, जिससे सतत निकलनेवाला आत्मशक्तिका सौम्य प्रकाश हमारे हृदयमें अपूर्व शान्ति और शीतलताका संचार करता है। अल्पशक्ति मानव इसके द्वारा अपने मन और आत्माको अनन्त-शक्ति परमात्माके साथ जोड़ता है और फलस्वरूप वह बहुत ही प्रतिभाशाली, उन्नत एवं चैतन्य बन जाता है।

'प्रार्थना' संतोंके, भक्तोंके और महात्माओंके जीवनकी समृद्धि है, शान्ति है, बल है। वे अपने जीवनकी प्रत्येक घड़ी और पलमें प्रार्थनाके अगम्य प्रभाव और अपरिमित शक्तिका अनुभव करते हैं। प्रार्थनाके निर्मल और शान्त जलमें निमज्जन करनेवालोंको जो परमानन्द प्राप्त होता है, उसके सामने संसारका कोई सुख अथवा स्वर्गके विलास-वैभवका कोई आनन्द टिक नहीं सकता। सच्ची प्रार्थना केवल ईश्वरकी पूजा या बाह्य उपासनामात्र नहीं है, बल्कि प्रार्थना-में लीन हुए मनुष्यके भीतरसे सहज ही निस्सृत होनेवाला तथा परमेश्वरके अगाध शक्ति-सागरमें विलीन होनेवाला एक अदृश्य आत्मशक्तिका स्रोत है। अखिल ब्रह्माण्डके स्रष्टा, सर्वशक्तिमान्, सर्वोद्धारक, परमपिता, 'सत्यं शिवं सुन्दरम्'-स्वरूप, सर्वव्यापी होकर भी अदृश्य रहनेवाले परमात्माके साथ एकतान होनेका प्रयास ही 'प्रार्थना' है। इसका अन्तिम लक्ष्य केवल परमात्माके साथ आत्माका ऐक्य-सम्पादन है।

यदि हम सच्चे दिलसे, एकचित्तसे, विनम्रभावसे प्रार्थना करनेका अभ्यास बना लें तो थोड़े ही समयमें हमको अपने जीवनमें अद्भुत परिवर्तन दिखायी पड़ने लगेगा, अपने प्रत्येक कार्य एवं व्यवहारमें इसके प्रभावकी गहरी छाप पड़ी हुई जान पड़ेगी। जिस व्यक्तिका आन्तरिक जीवन विशुद्ध हृदयसे की गयी प्रार्थनाके फल-स्वरूप उन्नत हो गया है, उसकी मुख-मुद्रा देखने ही योग्य होती है। वह कितना शान्त, समदर्शी और कितने अनोखे ओजसे देदीप्यमान दिखायी देता है! उसके स्वभाव और व्यवहारमें कितना सौजन्य और कितना सौम्य भाव निखर उठता है! उसका हृदय निर्दोष एवं सरल हो जाता है। वह जिधर दृष्टि डालता है, उसे अपने प्रियतम प्रभुकी मधुर

झाँकी मिलने लगती है । अंग्रेजी भाषामें व्यक्त किसी भक्तकी यह उक्ति सदैव ध्यानमें रखनेयोग्य है—

If we live a life of prayer,
God is present everywhere.

सच्चे दिलसे प्रार्थना करनेवाले भक्तके अन्तःकरणकी गहराईमें ईश्वरके प्रति ऐसा अटल विश्वास तथा प्रेमकी ऐसी ज्योति चमकती रहती है कि उसके पवित्र प्रकाशमें वह अपनेको भलीभाँति देख सकता है । अपने दोष, अपने अंदरकी स्वार्थ-वृत्ति, तुच्छ अभिमान या क्षुद्र वासनाओंका अनुभव होनेके कारण उसे अपनी अल्पता, नैतिक उत्तर-दायित्व, बौद्धिक लघुता एवं सांसारिक लोभ तथा आसक्तियोंकी असारताका सच्चा भान होता है और इस प्रकार वह अधिकाधिक सात्त्विक होकर प्रभुका सामीप्य प्राप्त करता है ।

'प्रार्थना' वास्तवमें अकारण-करुण, अखिल-ब्रह्माण्ड-नायक पूर्णतम पुरुषोत्तम श्रीभगवान्से शुद्ध हृदयकी वार्त्ता है; प्रभुसे भावनात्मक भेंट है, जीवका परमात्माके सम्मुख होना है । साधन सुगम है, पर फल महान् है—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं । जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥

इसीलिये 'प्रार्थना' जीवके कल्याणका एक महत्त्वशाली साधन है । 'प्रार्थना'के स्वरूपपर भी थोड़ा विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है—

(१) परमात्माकी सत्ता, उसके औदार्य, वात्सल्य, सर्वविध सामर्थ्य, दयालुता आदि कल्याणमय गुण-गणोंपर दृढ़ विश्वास हुए बिना किसी प्रकारकी प्रार्थना करना सम्भव नहीं है । इस विश्वासके अभावमें यदि किसी प्रकार प्रार्थना की भी गयी, तो वह निरर्थक होगी ।

(२) दूसरा अनिवार्य अङ्ग है—'विनय' । अहंकार और अभिमान प्रार्थनाके भावके विघातक हैं । गजेन्द्रको जबतक अपने बलका एवं अपने यूथके अन्यान्य गजोंकी शक्ति और साहाय्यका अभिमान रहा, तबतक वह भगवत्प्रार्थना नहीं कर सका । जब ग्राहसे संघर्ष करते-करते उसके मन, बल और ओज—सब शिथिल हो गये, अन्यान्य गज भी उसकी रक्षा करनेमें असमर्थ सिद्ध हुए, तब अन्ततोगत्वा सबका भरोसा छोड़कर उसने प्रभुकी शरण ली ।

(३) प्रार्थनाके लिये तीसरा अनिवार्य अङ्ग है—'हृदयकी शुद्धता' । लोकमें हम प्रबल शत्रुसे पराभूत होकर कोई और उपाय न देखते हुए अपने हितोंकी रक्षाके लिये मनमें कपट और दुर्भाव रखते हुए भी केवल नीतिकी दृष्टिसे प्रार्थना कर सकते हैं । परंतु भगवत्प्रार्थनाके लिये 'हृदयकी शुद्धता' परमापेक्षित है ।

अब आइये, प्रार्थनाके आदर्शोंपर भी सूक्ष्मरूपसे दृष्टिपात करें—

(अ) आदर्श प्रार्थना यन्त्रवत् की हुई या तोतारटंत-स्वरूपकी नहीं होती । अधिकतर हम प्रार्थनाके स्तोत्र या मन्त्र यन्त्रवत् बिना उनका अर्थ ध्यानमें लिये पढ़ जाते हैं । क्या पढ़ा, इसका भी ध्यान हमें नहीं रहता । इसमें मनो-योग नहीं होता । मुँहसे प्रार्थना, मनका विषयोंमें भ्रमण—यह है यन्त्रवत् प्रार्थनाका स्वरूप । इससे भी किंचित् लाभ होता है, पर आदर्श प्रार्थना इसके विपरीत होती है । आदर्श प्रार्थनामें शरीर, मन, वाणी—तीनोंका सहयोग होता है । तीनों अपने आराध्यदेवकी सेवामें एकरूप होते हैं । ऐसे महाभागके शरीरसे होनेवाली प्रत्येक क्रिया अपने आराध्यदेवके आज्ञा-पालनार्थ और उनकी प्रसन्नताके लिये होती है । प्रार्थना-कालमें शरीरका रोम-रोम प्रेमसे पुलकित होता है, मनमें उठनेवाली प्रत्येक वृत्ति भगवत्प्रेमसे सराबोर होती है, मुँहसे निकलनेवाला प्रत्येक शब्द भगवत्प्रेमसे परिप्लुत होता है ।

(आ) आदर्श प्रार्थना सकाम न होकर पूर्णतया निष्काम होती है । सच्ची प्रार्थना स्वार्थका सौदा नहीं । वह अपने आराध्यदेवके प्रति हृदयमें उफनते हुए प्रेमका आविष्करण है । यत्किंचित् भी सकामभाव या स्वार्थभाव प्रार्थनाको उसके सच्चे एवं विशुद्धरूपसे भ्रष्ट कर देता है ।

(इ) सच्ची प्रार्थनामें किसी प्रकारका दम्भ, दिखावा या मिथ्याचार नहीं होता । वह इन बातोंसे बहुत दूर होती है । वह अपने आराध्यदेवके सम्पर्कमें ही कृतकृत्यता मानती एवं सदैव उनकी प्रसन्नतामें अपनी प्रसन्नता समझती है ।

(ई) ऐसी प्रार्थना बाहरी या दिखाऊ धार्मिकताकी खानापूरीके लिये नहीं होती । यह तो हृदयकी वस्तु होती है । इसलिये वह अहर्निश चलनेवाली है । बिना प्रार्थनाका एक क्षण भी साधकको बेचैन कर देता है ।

'तद्विस्मरणे परमव्याकुलता ।' (नारद-भक्ति-सूत्र १९)

(उ) सच्ची प्रार्थनामें साधक अपने इष्टदेवकी संनिधिका निरन्तर अनुभव करता है और फलस्वरूप उसका जीवन आमूल बदल जाता है एवं कभी भी, किसी अवस्थामें उससे पापाचरण होनेकी सम्भावना नहीं रहती। साथ ही उसके सम्पर्कमें रहनेवाले सभी व्यक्ति—चाहे वे परिवारके हों अथवा मित्ररूप हों—सबके ऊपर उसकी अमिट छाप पड़ जाती है तथा साधकका वातावरण शान्ति, दया, समता, उदारता, करुणा, संतोष, सहनशीलता आदि दैवी सम्पदाओंसे परिप्लावित हो उठता है।

(ऊ) सच्ची प्रार्थनामें रत साधक परहितमें ही अपना स्वार्थ समझते हुए अपने स्वार्थकी ओर ताकतातक नहीं। सर्वत्र प्रेममय परमात्माके दर्शन करते हुए वह चराचरको उन्हींसे व्याप्त देखता है। 'हरिरेव जगज्जगदेव हरिः' इसी आधारपर उसके प्रत्येक कर्म होते हैं।

(ऋ) सच्ची प्रार्थनाके प्रभावसे साधकके सभी आचार-विचार और क्रियाएँ दिव्यत्वसे ओतप्रोत रहती हैं। उसकी प्रत्येक क्रियामें सहज ही विश्वकल्याणका स्रोत उमड़ता रहता है। वह आदर्श मानवके रूपमें सदा-सर्वदा समाजका कल्याण करता रहता है। अज्ञानी जगत्के तापत्रयसे पीड़ित मानवों और नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त सच्चिदानन्द प्रभु—इन दोनोंके बीच सेतु बनकर वह विश्वोद्धार करता रहता है।

सच्ची प्रार्थनाकी महिमाका जितना वर्णन किया जाय, थोड़ा है। हृदयसे निकली सच्ची प्रार्थनामें अगाध शक्ति होती है; क्योंकि हृदयकी प्रबल भावशक्तिमें पत्थरको भी पिघलानेकी शक्ति होती है। फिर यहाँ तो जिनके प्रति यह प्रार्थना की जाती है, वे जीवमात्रके जन्म-जन्मान्तरके परम हितैषी, अनन्त करुणा, दया, क्षमा, कृपासे सम्पन्न परम कारुणिक, भक्तवत्सल, दयानिधान, साक्षात् परमपिता परमात्मा ही होते हैं, तब भला इसका प्रभाव उनपर क्यों न होगा?

मानव-समाजके सम्मुख प्रार्थनाके आदर्शोंको उपस्थित करनेवाले अगणित परम भागवतोंकी कथाएँ हमें इस मार्गपर चलनेमें अत्यन्त सहायक सिद्ध होती हैं। अतः उनकी कथाओंका निरन्तर श्रवण एवं मनन करके हम कृतकृत्य हो सकते हैं—

सच्ची प्रार्थना की बालक प्रह्लादने, जिसके प्रेम-वशवर्ती होकर भगवान्ने नृसिंहावतार धारणकर आसुरी शक्तिको विफल कर दिया।

सच्ची प्रार्थनाके बलपर ही बालक ध्रुवने ध्रुवपद प्राप्त करके अपना नाम सार्थक कर दिखाया।

इसी प्रार्थनाके कारण गजेन्द्रकी आर्त्त पुकार सुनकर भगवान् वैकुण्ठ छोड़कर दौड़ पड़े और भक्तकी रक्षा की।

इसी प्रार्थनाने द्रौपदीके लज्जा-रक्षणार्थ भगवान्से अम्बरावतार धारण करवाया।

व्रज-गोपाङ्गनाओंकी सच्ची प्रार्थनाने ज्ञान और मुक्तिको भी ठुकराकर अपनी परम प्रेमरूपा भक्तिका आदर्श स्थापित कर दिया।

भगवान् कृष्णसे माता कुन्तीकी प्रार्थना किसीसे छिपी नहीं है, जिसमें उन्होंने निरन्तर विपत्तिकी ही माँग की है, जिससे सम्पत्तिके मदमें कहीं अपने आराध्यदेवकी विस्मृति न हो जाय।

प्रार्थनाके सच्चे प्रेमी महात्मा गांधी तो यहाँतक कहते थे कि 'मैं भोजनके बिना रह सकता हूँ, किंतु प्रार्थनाके बिना नहीं; क्योंकि 'प्रार्थना' मन और आत्माका भोजन है।'

प्रार्थनाका यथार्थ एवं महान् आदर्श हमें यूनानके तत्त्वदर्शी महात्मा सुकरातके जीवनमें मिलता है, जो सदैव भगवान्से यह प्रार्थना किया करते थे कि 'हे प्रभो! मैं अपने हिताहितके विषयमें अबोध हूँ। अतः जिसमें मेरा अहित हो, वह माँगनेपर भी मुझे न दें; जिसमें मेरा हित हो, बिना माँगे ही मुझे दे दें।'

प्रार्थनामय जीवनको ही एकमात्र आधार बनाते हुए हमें भी गद्गद वाणीसे प्रभुसे यही प्रार्थना करनी चाहिये कि—

मेरी चाही करन की, जो है तुम्हरी चाह।
तो अपनी चाही करौ, यह है मेरी चाह॥
मेरी चाही हो वही, जो है तुम्हरी चाह।
तुम्हरी अनचाही कभी, मत हो मेरी चाह॥
तुम्हरी चाही में, प्रभो! है मेरा कल्यान।
मेरी चाही मत करो, मैं मूरख अनजान॥

सारांश यह कि विश्व-कल्याणके लिये एकमेव भगवत्प्रार्थनाका मार्ग ही अनुकरणीय है।

हरिः ओम् तत्सत्।

सेवा-पथ

(लेखक—श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन)

शिष्य—सेवामार्गमें आनेवाली कुछ कठिनाइयाँ आपके सम्मुख रखनेकी धृष्टता करता हूँ। आशा है, आप कोई-न-कोई उपाय ऐसा बतलानेकी कृपा करेंगे, जिससे उन कठिनाइयोंपर विजय प्राप्त की जा सके।

गुरु—मैं तुम्हारी कठिनाइयाँ सुनना चाहता हूँ।

शिष्य—जिसकी सेवा की जाती है, वह कुछ दिनोंके पश्चात् उस सेवाको अपना अधिकार मानने लगता है और किसी कारण यदि हम वह सेवा करनेमें असमर्थ हो जाते हैं तो वह फिर विरोधी बन जाता है। इस प्रकार सेवा शत्रुताका कारण बन जाती है। यही नहीं, एक सेवा अन्य अनेक सेवाओंकी माँगको जन्म देती है। जिस प्रकार भोगका परिणाम दुहरा होता है—एक वासनाकी तृप्ति और अनेक नयी वासनाओंका जन्म, इसी प्रकार सेवाका परिणाम भी दुहरा होता है—सेवाके प्रति कृतज्ञता और सेवकके प्रति अन्य नयी आशाओंका जन्म। यही कारण है कि कुछ दिनोंतक मैत्री रहनेके पश्चात् टूट जाती है। यदि उसके नियमनके पीछे कोई धार्मिक, सांस्कृतिक अथवा पारिवारिक चेतना होती है, या कोई रसात्मक अनुभव होता है तो वह फिर जुड़ जाती है; नहीं तो वह टूटी हुई मैत्री उपेक्षा और कहीं-कहीं विरोध या शत्रुताका रूप धारण कर लेती है। सेवा विषमताको जन्म देती है। प्रत्येक व्यक्तिके साधन सीमित होते हैं। वह विशेष क्षेत्रमें ही सेवा-कार्य करता है। जिनकी सेवा की जाती है, वे प्रसन्न हों या न हों, जिनकी नहीं कर पाते, वे बुरा मानने लगते हैं। जिनकी सेवा की जाती है, वे भी इस भयसे कटने लगते हैं कि कहीं हमें सेवाका बदला न चुकाना पड़े। फिर प्रत्येक व्यक्तिके स्वाभिमानको इससे ठेस पहुँचती है कि उसके ऊपर दूसरोंकी सेवा-का ऋण है। प्रत्येक व्यक्ति अपनेको स्वावलम्बी सिद्ध करना चाहता है, चाहे वह दूसरोंपर कितना ही आश्रित क्यों न रहा हो।

गुरु—तुम चाहो तो प्रलयतक सेवा-मार्गमें आनेवाली कठिनाइयोंकी व्याख्या करते रह सकते हो। ये सब कठिनाइयाँ हैं, परंतु इनका कारण कुछ भ्रम हैं। प्रथम तो हम दूसरोंकी वासनापूर्तिको ही सेवा मान बैठते हैं, जब कि वह सेवा नहीं। दूसरोंका कल्याण करना ही सेवा है। वासनापूर्ति और कल्याणमें अन्तर है। कल्याणके निमित्त ही कुछ कामनाओंकी पूर्ति की जानी चाहिये, परंतु प्रत्येक कामनाकी पूर्ति कल्याण नहीं है। ईश्वरीय विधान प्राणीमात्रके कल्याणके लिये सतत प्रयत्नशील है, कामनाकी पूर्तिके लिये नहीं। अतः जब हम किसी प्राणीके कल्याणके लिये प्रयत्न करते हैं, तब ईश्वरीय शक्ति हमारी सहायता करती है और जब हम किसी प्राणीकी ऐसी कामना पूर्तिमें लग जाते हैं, जो कल्याणमार्गके विरुद्ध हो, तब हम ईश्वरीय शक्तिके विरुद्ध लड़ते हैं और विडम्बना यह कि उसे सेवाका नाम देकर उल्टे पुरस्कार चाहते हैं।

सेवा-मार्गमें दूसरी भ्रान्ति यह है कि हम जिसकी सेवा करते हैं, उसी प्राणीसे उसका प्रत्युपकार चाहते हैं। हम नहीं समझते कि सारा ब्रह्माण्ड एक विश्वात्मा परमात्मा-का शरीर है। यदि हमने मुखको भोजन दिया है तो क्या यह आवश्यक है कि मुख ही उसका मूल्य चुकाये ? उसका मूल्य हाथ चुका सकता है। यही सेवाके संदर्भमें समझना चाहिये। यदि हमने किसीकी सेवा विश्वात्माकी सेवा समझकर की है तो वह अपने अङ्गकी सेवाका मूल्य और किसी अङ्गके द्वारा चुका देगा। जीवन-में भी हम यही देखते हैं। बच्चोंकी सेवाका मूल्य हम

उन बच्चोंसे न माँगकर उनके माता-पितासे माँगते हैं। सेवाका बदला अवश्य मिलता है, परंतु उतने ही अंशमें जितने अंशमें वह सेवा कल्याणकारी है। सेवाका प्रत्युपकार अवश्य मिलता है, परंतु आवश्यक नहीं कि जिसकी सेवा की है, वही प्रत्युपकार दे। सेवा किसीकी, प्रत्युपकार कोई देता है। हम इसका रोना तो रात-दिन रोते हैं कि जिनकी सेवा की, उन्होंने कुछ नहीं दिया; परंतु एक बार भी यह नहीं बतलाते कि हमारे पास कितना सुख उन लोगोंद्वारा आया है, जिनकी हमने कोई सेवा नहीं की। यही बात दूसरोंको कष्ट पहुँचानेके विषयमें भी समझ लेनी चाहिये। जिनको हमने पीड़ा दी है, आवश्यक नहीं, वे ही हमपर बदलेमें चोट करें। वह चोट कहींसे भी अनायास आ सकती है। आयेगी अवश्य।

परम धर्म—अहिंसा

[मांसाहार मनुष्यके लिये हिंसा एवं अधर्म]

(लेखक—ठा. श्रीमानसिंहजी. के. एस.)

अहिंसा ही परम धर्म है, यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। संसारके सभी प्रमुख धर्म-सम्प्रदायोंके धर्मग्रन्थोंका ध्यानपूर्वक अध्ययन करनेपर हमें यह भलीभाँति ज्ञात होगा कि कोई भी धर्मग्रन्थ हिंसा एवं मांसाहारकी आज्ञा नहीं देता। प्राचीन ग्रन्थोंमें कहीं-कहीं कुछ विशेष परिस्थितियोंमें सम्मति दी गयी है, जो अर्थयुक्त है। इसके अतिरिक्त जहाँ-कहीं हिंसा, मांसाहार एवं मद्यपानकी खुली छूट दी गयी हो, वहाँ उसका या तो अर्थ कुछ और ही होगा, अथवा वह तथाकथित आज्ञा कुछ स्वार्थी तत्त्वोंने गढ़कर कालान्तरमें धर्मशास्त्रोंमें सम्मिलित की है, ऐसा माननेमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये; क्योंकि एक ही ग्रन्थमें एक-दूसरेके विपरीत आज्ञाओंका समावेश असम्भव प्रतीत होता है।

इस सम्बन्धमें सनातनधर्म, इस्लाम एवं ईसाइयत (Christianity) के धर्मशास्त्रोंसे कुछ अंश प्रमाणके रूपमें नीचे उद्धृत किये जाते हैं, जिनको बुद्धि-विवेककी कसौटीपर कसकर यह समझा एवं निर्णय किया जा सकता है कि जीव-हिंसा तथा मांस-भक्षण मनुष्यके लिये कहाँतक न्यायोचित है।

सनातनधर्मके प्राचीन धर्मग्रन्थ मनुस्मृतिमें वर्णित निम्न श्लोकोंपर विचार कीजिये—

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते॥
(५ । ४५)

'जो अहिंसक प्राणियोंकी अपने सुखकी इच्छासे हिंसा करता है, वह जीता हुआ ही मृतकके समान है और उसे कहीं भी सुखकी प्राप्ति नहीं होती।'

भगवान् मनु फिर कहते हैं—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्त्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः॥
(५ । ५१)

'जीव-वध करनेकी अनुमति देनेवाले, वध किये हुए जीव-शरीरोंके टुकड़े-टुकड़े करनेवाले, वध करनेवाले, मांसका क्रय-विक्रय करनेवाले, मांस पकानेवाले, परोसने या लानेवाले और मांस खानेवाले—इन आठ प्रकारके मनुष्योंकी गणना घातकोंमें ही होती है।' फलतः ये सभी महापातकी हैं।

हिंदू धर्मशास्त्रोंमें निर्देशित उक्त निषेधाज्ञाओंके अतिरिक्त अन्य धर्मसम्प्रदायोंके गुरु एवं महात्माओंने भी हिंसाको अधर्म एवं पाप मानकर अपने अनुयायियोंको इससे बचे रहनेका उपदेश दिया है। इस्लामी एवं ईसाई धर्मशास्त्र एवं फकीर और महात्माओंने हिंसाको परमात्मा (खुदा या God) की मर्जीके विरुद्ध एवं पापकर्म कहा है। इस्लामधर्मके मुख्य धर्मशास्त्र कुरानकी निम्नलिखित आयतोंसे यह बात भलीभाँति स्पष्ट होती है—

कुरान सूरा हज़ आयत—३६

'लैयनालल्लाह लहू मोहा व लादेमाओहा वलाकीं यनालहू अन्तकवामिनकुम'

अर्थ—जिनको तुम कुर्बानीके नामसे मारते हो, उन-

उन जानवरोंका मांस एवं खून अल्लाहके पास नहीं पहुँचते। उसके पास पहुँचती है तुम्हारी परहेज-गारी, अर्थात् हत्या करनेसे परहेज। अहिंसाका पूर्णतः पालन ही उसको कबूल होता है।

कुरान सूरा इनाम आयत—१३६

'बमिनल अनआमें हमूलतुन व फर्शाकुलू मिम्मा रिज़क कुमुअल्ला हो।'

'मैंने जानवरोंमेंसे बोझ उठानेवाले इसलिये पैदा किये हैं कि तुम उनसे बारबरदारी अर्थात् बोझ उठाने और हल जोतनेका काम लो। और उनको खाओ, जो जमीनसे लगी हुई हैं—अर्थात् अन्न,सब्जी, कंदमूल, फल इत्यादि; क्योंकि अल्लाहने इन्हीं वस्तुओंको रिजक यानी खानेको दिया है।'

इसी तरह महात्मा शेखसादी फरमाते हैं—

मबारा दरपये आज़ार हच खाहीकुन कि
दर शरीअते मा अजीगुना है नेस्त।

'किसी जीवको दुःख देनेके पीछे मत पड़ो और जो चाहे करो; क्योंकि मेरे धर्मशास्त्रमें इससे बढ़कर और दूसरा कोई पाप नहीं है।'

ईसाई-धर्मके मुख्य दस नियमोंमें एक अहिंसा (Non-violence) भी है। इसके प्रमुख ग्रन्थ बाइबलमें जीव-हिंसा-के सम्बन्धमें कई जगह स्पष्टतया निषेधाज्ञाएँ हैं, जिनके कुछ अंश नीचे दिये जाते हैं:—

New Testament, Romans, Chapter XIV, 20-21:-

'For meat destroy not the work of God. All things, indeed are pure; but *it is* evil for that man who eateth with offence. *It is* good neither to eat flesh, nor to drink wine, nor *any thing* whereby thy brother stumbleth or is offended, or is made weak.'

'मांसके लिये ईश्वरकी रचनाको नष्ट मत करो। संदेह नहीं कि सब वस्तुएँ, जो ईश्वरने बनायी हैं, पवित्र हैं। परंतु जो मनुष्य दूसरे प्राणीको दुःख पहुँचाकर खाता है, वह पाप करता है। मांस खाना एवं मदिरापान करना अच्छा नहीं है और न किसी प्रकारका ऐसा कार्य करना ही उत्तम है, जिससे तुम्हारे भाईको ठोकर लगे अथवा धक्का पहुँचे या दुःख हो तथा निर्बलता प्राप्त हो।'

Micah, Chapter III, 2—4:-

Who hate the good, and love the evil; who pluck off their skin from off them and their flesh from off their bones; who also eat the flesh of my people, and flay their skin from off them; and they break their bones and chop them in pieces, as for the pot, and as flesh within the caldron. Then shall they cry unto the LORD, but they will not hear them; he will even hide his face from them at that time, as they have behaved themselves ill in their doings.

'जो लोग भलाईसे घृणा करते हैं और बुराईसे प्यार करते हैं, जो पशु-पक्षियोंकी खाल उनके शरीरसे और मांसको उनकी हड्डीसे खींच लिया करते हैं, जो मेरे बनाये हुए जीवोंका मांस-भक्षण करते हैं, उनसे उनका चमड़ा उधेड़ देते हैं, जो उनकी हड्डियोंको तोड़ डालते हैं और उनके टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं तथा अनेक विभिन्न पात्रों यानी देगचोंमें उनके मांसको पकाते हैं, यदि वे हजारों बार ईश्वरके सामने पुकारेंगे तो भी वह उनकी एक नहीं सुनेगा। बल्कि उस समय वह अपना मुँह उनसे छिपा लेगा; क्योंकि उन लोगोंने अपनी करनी बहुत ही बुरी की है।'

Genesis, Chapter I, 29:-

And God said, Behold, I have given you every herb bearing seed, which is upon the face of all the earth, and every tree, in which is the fruit of a tree yielding seed; to you it shall be for meat.

'ईश्वरने कहा—'मैंने प्रत्येक ओषधि (गेहूँ, चावल, जौ, चना इत्यादि), जिन्हें खानेके पश्चात् उसके बीजसे आगेके लिये फसल हो सकती है अर्थात् उस जातिका विनाश नहीं होता और जो सर्वत्र पृथ्वी-मण्डलपर है, तुमको दी है। वे वृक्ष भी तुम्हें दिये हैं, जिनमें फल लगते हैं और जिस फलसे बीज होता है। ये ही तुम्हारे भोज्य पदार्थ हैं।'

Hosia, Chapter VI, 6:-

For I desire mercy and not sacrifice; and the knowledge of God more than burnt offerings.

"ईश्वर कहता है कि मैं दया चाहता हूँ, बलिदान नहीं। ईश्वरका ज्ञान अर्थात् ब्रह्मज्ञान, हवनसे उत्तम है, न कि यज्ञमें दी गयी पशुबलि।"

यदि धर्मके आधारपर जन-समुदायका विभाजन किया जाय तो सबसे अधिक संख्या इन तीन धर्मोंके अनुयायियोंकी ही रहेगी और जैसा कि हम देख चुके हैं, ये तीनों धर्म (सनातनधर्म, इस्लाम एवं ईसाई धर्म) जीवहिंसाको पातक एवं अहिंसाको सिद्धान्तरूपमें स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त और भी जितने छोटे-छोटे धर्म एवं सम्प्रदाय संसारमें विद्यमान हैं, जहाँतक हमने समझा है, उनमेंसे कोई भी जीवहिंसाको अच्छा नहीं बतलाता।

यह तो रहा जीवहिंसाका धार्मिक ग्रन्थोंके आधारपर विवेचन। अब हमें आजके स्वतन्त्र विचारधारावाले लोगोंके समक्ष इस सम्बन्धमें मौलिक रूपसे, सामान्य बुद्धि-विचारके आधारपर सृष्टिकर्ताके प्राकृतिक नियमोंका विश्लेषण करना है।

कोई भी व्यक्ति, जो पुनर्जन्म एवं सृष्टिके रचयितामें किंचिन्मात्र भी विश्वास करता है, अपने विवेकसे यह समझ सकता है कि उसका किस कामके करने या न करनेमें कितना अधिकार है। सृष्टिके उत्पत्तिकर्ताने संसारमें अनेक प्रकारके जीव उत्पन्न किये हैं और यह देखनेमें आता है कि प्रत्येक जीवके प्रत्येक कार्यकी प्राकृतिकरूपसे कुछ सीमा निर्धारित है। जिन जीवोंको प्रकृतिने मांसाहारी बनाया है—जैसे कि शेर, चीता, तेंदुआ, गीध, चील इत्यादि—वे दूसरे जीवोंका मांस भक्षण करते हैं और जो जीव शाकाहारी हैं—जैसे हाथी, घोड़ा, गाय, भैंस, बकरी, भेड़, बंदर, कबूतर इत्यादि, वे मांस-भक्षण नहीं करते। जो जीव मर्यादाका उल्लङ्घन करता है, यानी धर्म त्यागकर अधर्म करता है, वह अन्तमें निश्चय ही विनाशको प्राप्त होता है। धर्मरक्षासे रक्षा होती है।

प्रकृतिने मनुष्यको मांसाहारी जीवोंकी श्रेणीमें रक्खा है अथवा नहीं और मनुष्यके लिये कितनी हिंसा किस रूपमें अनिवार्य या मर्यादित है, इसका निर्णय हमें करना है। जहाँतक मांसाहारका प्रश्न है, मनुष्य और उसके समक्ष अन्य जीवोंकी शारीरिक आकृति एवं आहार-विहारका तुलनात्मक दृष्टिसे विवेचन करनेपर मनुष्यके मांसाहारी अथवा शाकाहारी होनेका निर्णय हो सकता है। अन्य समीपवर्ती जीवोंसे तुलना करनेपर मनुष्यकी आकृति लंगूर, बंदर, रीछ एवं चिम्पांजी इत्यादिसे अधिक मिलती-जुलती है और कुछ लोगोंका ऐसा अनुमान है कि ये ही मनुष्यके पूर्वज हैं, हालाँकि इनके और मनुष्यके बीचकी स्थितिवाला कोई जीव न तो कभी किसीके देखनेमें आया है और न सुननेमें ही। इससे सिद्ध होता है कि यह सिर्फ एक मनगढ़ंत कल्पना है। फिर भी हम यह देखते हैं कि मनुष्यके समान आकृतिवाले ये सभी प्राणी शाकाहारी ही हैं, जो प्राकृतिक दृष्टिसे मनुष्यके शाकाहारी होनेकी पुष्टि करते हैं।

जीव-सृष्टिका निम्नलिखित चार श्रेणियोंमें विभाजन किया गया है—(१) पिण्डज, (२) अण्डज, (३) स्वेदज, (४) उद्भिज्ज। इन विभागोंमें मनुष्य पिण्डजमें शामिल है। अतः हम इस श्रेणीके ही जीवधारियोंका तुलनात्मक विवेचन करते हैं। पिण्डज प्राणियोंमें तीन प्रकारके जीव हैं—

(१) वे जीव, जो फल-फूल, अन्न, कंद-मूल एवं घास इत्यादि वनस्पतियोंद्वारा अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। इस श्रेणीमें बंदर, लंगूर, गाय, भैंस, घोड़ा, हाथी, भेड़, बकरी, ऊँट इत्यादि जीव आते हैं।

(२) वे जीव, जो दूसरे जीवोंको मारकर उनके मांसद्वारा अपना जीवन-निर्वाह करते हैं—जैसे शेर, चीता, तेंदुआ, भेड़िया इत्यादि।

(३) वे जीव, जो मांस एवं अन्न-दूध दोनोंको ही ग्रहण करते हैं—जैसे कुत्ता, बिल्ली इत्यादि।

चूँकि प्रश्न मनुष्यके मांसाहारी अथवा शाकाहारी होनेका है, अतः मनुष्यके आहार-विहारकी तुलना अन्य पिण्डजोंके आहार-विहारसे भी करनी चाहिये।

इस सम्बन्धमें सबसे पहले, समस्त मांसाहारी एवं शाकाहारी जीवोंके पेय पदार्थ ग्रहण करनेकी प्रक्रियाको ध्यानपूर्वक देखनेसे ज्ञात होगा कि समस्त मांसाहारी प्राणी जीभ लटकाकर (जीभद्वारा) पेय पदार्थ ग्रहण करते हैं, जब कि शाकाहारी प्राणी (गाय, भैंस, बकरी इत्यादि) मुँह लगाकर होठद्वारा ही पेय पदार्थ ग्रहण करते हैं। चूँकि मनुष्य भी होठोंद्वारा ही पेय पदार्थ ग्रहण करता है, अतः वह स्वभावतः ही शाकाहारी है। दूसरे, जन्मके समय समस्त मांसाहारी जीवोंकी आँखें बंद रहती हैं, जब कि शाकाहारी जीवोंकी आँखें जन्मसे ही खुली रहती हैं। इससे भी मनुष्यका शाकाहारी होना सिद्ध होता है। तीसरे, अँधेरेमें शाकाहारी जीवोंको कम

दिखायी देता है। इसके विपरीत मांसाहारी जीव अन्धकारमें भी अपना शिकार देख लेते हैं। चौथे, मांसाहारी नर-मादा सम्भोगके समय जब मिलते हैं, तब उसकी समाप्तिसे पूर्व अलग नहीं हो पाते, जब कि शाकाहारी जीवोंके साथ ऐसी बात नहीं है। पाँचवें, मांसाहारी जीवोंके शरीरमें पसीना नहीं आता, किंतु शाकाहारी जीवोंको स्वेद आता है। छठे, मांसाहारी जीवों तथा शाकाहारी जीवोंकी आँतोंकी बनावटमें भी अन्तर होता है। शाकाहारी प्राणियोंकी आँतें मांसाहारी प्राणियोंकी अपेक्षा बड़ी होती हैं। सातवें, मांसाहारी प्राणियोंके बगलके दाँत (खूँटे) बाकी दाँतोंकी अपेक्षा बड़े होते हैं, जब कि शाकाहारियोंके साथ ऐसा नहीं है।

मांसाहारी एवं शाकाहारी जीवधारियोंकी शारीरिक रचना एवं उनके आहार-विहारके तुलनात्मक विवेचनसे यह स्पष्ट है कि चूँकि मनुष्यमें भी अन्य शाकाहारी प्राणियोंके समान ही गुण एवं धर्म विद्यमान हैं, अतः सृष्टिकर्त्ताके विधानानुसार अथवा प्राकृतिक दृष्टिसे वह शाकाहारी ही है। तीसरे प्रकारके जीव, जो मांसाहार भी करते हैं और अन्न-दूधसे भी निर्वाह करते हैं—जैसे कुत्ता, बिल्ली इत्यादि, ये वास्तवमें मांसाहारी ही हैं। मनुष्यके सम्पर्कमें आनेसे ही ये दोनों प्रकारके आहारके अभ्यासी हो गये हैं।

जैसा हमने सिद्ध किया है, मनुष्यको प्रकृतिने शाकाहारी ही बनाया है। यदि वह मांसाहार करता है तो प्रकृतिके विरुद्ध कार्य करता है और प्रकृतिका यह सिद्धान्त है कि उसके विरुद्ध कार्य करनेवालोंको स्वयं ही कष्ट एवं हानि उठानी पड़ती है और वे अन्तमें विनाशको प्राप्त होते हैं—जैसे जलप्रवाहके प्रतिकूल दिशामें प्रयास करनेसे शारीरिक कष्ट होता है, विशेष हानि भी होती है और शारीरिक शक्तिकी सीमा समाप्त हो जानेपर शरीरान्त भी हो सकता है।

यह पहिले ही कहा जा चुका है कि संसारके तीन बड़े धर्म-सम्प्रदायों तथा अनेक दूसरे सम्प्रदायोंने जीव-हिंसाका निषेध किया है। चूँकि मांसकी प्राप्ति बिना जीव-हिंसाके होती ही नहीं और हिंसा करना पाप है, अतः मांसाहार भी अप्राकृतिक, अधर्म एवं पाप है, यह बात मनुष्यको अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये। लोगोंका यह कहना कि चूँकि उनके पूर्वज मांस खाते आये हैं, इसलिये वे भी खाते हैं, हेय—अनुचित है। इससे तो यही सिद्ध होता है कि वे निरुत्तर होनेके कारण मांस-भक्षण करनेके लिये कोई बहाना ढूँढ़ते हैं।

बहुत-से लोग मांस और अंडेको वनस्पतिकी अपेक्षा अधिक पुष्टिकर मानते हैं और इसी बहाने इनका भक्षण करते हैं। परंतु उनका यह तर्क युक्तिसंगत नहीं है। आज डाक्टरों-द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि मांसमें पौष्टिक तत्त्व अन्नसे कम हैं। मांसके ३६ प्रतिशतमें ही वह अंश—तत्त्व रहता है, जिससे पुष्टि होती है। शेष ६४ प्रतिशत भागमें सिर्फ पानी रहता है। अनाजके १०० भागोंमें ८० से लेकर ९० तक भागोंमें पुष्टिकारक तत्त्व रहता है तथा केवल १० से २० भागमें पानी रहता है।

यह भी देखनेमें आता है कि लोग मांस-प्राप्तिकी आशासे मुर्गे, मछली और अन्य जीव पालते हैं और उनको अन्नकी पौष्टिक सामग्री खिलाकर तैयार करते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि उक्त जीवोंको अन्न-सामग्री खिलानेके बदले वे कितना मांस प्राप्त कर पाते हैं और वह मांस उस अन्नके बदलेमें खाद्यकी समस्या किस हदतक सुलझाता है। हाँ, आर्थिक दृष्टिसे मांस मँहगा होनेके कारण पालनेवालेको कुछ आर्थिक लाभ भले ही हो जाय, परंतु उन्हें अन्न-व्ययके बदलेमें मांस कम ही प्राप्त होगा।

कुछ लोग स्वादके लिये ही मांसाहार करते हैं। इस सम्बन्धमें तो केवल इतना ही कहना काफी है कि किसी भी गंदे-से-गंदे पदार्थको स्वादिष्ट बनाया जा सकता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह ईश्वरप्रदत्त या प्राकृतिक भोज्य-पदार्थ है।

निम्नलिखित सारणीसे यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि कुछ वनस्पतियोंमें मांस एवं अंडेसे अधिक पौष्टिक तत्त्व है—

पदार्थ	प्रोटीन अर्थात् मांस बनानेवाला अंश	उष्णोदक अर्थात् चर्बी बनानेवाला अंश	कैलोरीजकी उत्पादकमात्रा प्रति पाउंड
भैंसका दूध	४.०	७ से ९ तक	४८०
मुर्गीका अंडा	१४.८	१०.५	७२०
मांस	२४.००	२.५	२७६
सोयाबीन	४०.००	२०.३	२१००

आजकल हमारे देशके समक्ष खाद्य-समस्या भीषणरूपसे विद्यमान है। इस समस्याके निराकरणके लिये अनेक हल ढूँढ़े जा रहे हैं। जन-संख्या न बढ़ने देनेके लिये भी अनेक

उपाय किये जा रहे हैं। यहाँतक कि गर्भपात-जैसे अमानवीय कृत्यके लिये भी कानूनमें छूट देनेके प्रश्नपर विचार हो रहा है। कुछ लोग मांसाहारको खाद्य-समस्याका एक हल मानकर उसे बढ़ावा दे रहे हैं। इसकी पूर्तिके लिये बृहत्परिमाणमें जीववध करने, मत्स्य पालने एवं अंडोंका उत्पादन करनेके बड़े-बड़े केन्द्र खोले जा रहे हैं और इन उद्योगोंको शासनद्वारा अधिक-से-अधिक प्रोत्साहन दिया जा रहा है। किंतु इन उपायोंसे खाद्य-समस्याका हल तो सम्भव नहीं, वरन् इसके विपरीत मनुष्यका मनुष्यतासे पतन अवश्यम्भावी है। इतना ही नहीं, अपितु पशु-पक्षियोंका मांस-भक्षण करके मनुष्य क्रमशः मनुष्यतासे गिरकर हैवान और हैवानसे शैतान ही बनेगा।

जब अनेक प्रकारके जीवोंका वध करके उनका मांस एकत्रित किया जा सकता है, तब इसका अर्थ यह हुआ कि मांस-मांसमें विशेष अन्तर नहीं है। इससे यह समझमें आता है कि मनुष्य अब कैसे-कैसे जघन्य कर्म करनेपर उतारू हो चला है। इन्हीं प्रवृत्तियोंके विकसित हो जानेका परिणाम है कि लोगोंने बालकोंका अपहरण एवं वध करके उनका मांस खाद्य-सामग्रीके रूपमें बेचा तथा भक्षण किया और कराया। मनुष्यका यदि इतना पतन हो सकता है तो धर्म और संस्कारका त्याग करके प्रतिदिन मरनेवाले हजारों मनुष्योंसे और भी अधिक मांस प्राप्त किया जा सकता है। यही नहीं, फिर तो खाद्य-समस्या हल करने एवं जनसंख्या कम करनेके हेतु ऐसी आज्ञा भी दी जा सकती है कि निश्चित संख्यासे अधिक संतान पैदा करनेपर शेष संतान सरकारको भोज्य-पदार्थके निमित्त भेंट कर दी जाय। क्या कोई भी समाज या शासक इस प्रकार मानव-जातिसे मांस प्राप्त करनेकी बात पसंद कर सकता है? यदि नहीं, तो फिर दूसरे जीवोंका मांस-भक्षण करनेमें मनुष्यका क्या अधिकार है? क्या अपने स्वाद एवं उदर-भरणके लिये ईश्वरद्वारा रचे गये जीवोंकी हत्या करना पाप या अधर्म नहीं है? क्या यही मानवता है? हमने इन जघन्य कृत्योंसे अपने-आपको कितना पतित कर लिया है?

हमारे देशने अपने आध्यात्मिक एवं नैतिक बलसे संसारके समस्त देशोंकी गुरुता प्राप्त की थी। संसारको सत्य, अहिंसा एवं मानवताका पाठ पढ़ाया था, जिन आदर्शोंको सामने रखकर संसारके अन्य देश इस दिशामें अपना स्तर ऊँचा कर रहे हैं। इसके विपरीत हम पतनके गर्तकी ओर चले जा रहे हैं और उलटे उनकी नकल करते जा रहे हैं।

हमारे देशमें धरतीकी कमी नहीं है। साथ ही भारत-माताके सपूतोंकी भी कमी नहीं। प्राकृतिक साधनोंसे भरा हुआ हमारा देश है। हम चाहें तो धन-धान्यसे स्वयं तो आत्मनिर्भर हो ही सकते हैं, साथ ही दूसरोंकी भी सहायता कर सकते हैं। हमारे सामने जापान-सरीखे देशोंके उदाहरण हैं, जो थोड़ी-सी धरतीपर वर्षमें पाँच-छः फसल तैयारकर प्रचुरमात्रामें खाद्यसामग्री पैदा कर लेते हैं। अपने उपभोगसे बचाकर दूसरे देशोंको निर्यात भी कर देते हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है, हम भी खाद्यके क्षेत्रमें न केवल आत्म-निर्भर, वरन् दूसरे देशोंकी भी सहायता करनेमें समर्थ हो सकते हैं। परंतु यह तभी सम्भव होगा, जब हम अपने इतिहासके अनुसार अपनी परम्परागत संस्कृति, अधिकार एवं मानवधर्म (अर्थात् अनादि सनातन धर्म) के रक्षार्थ कार्य करना ही अपना धर्म एवं कर्तव्य समझकर कर्म करनेको उद्यत होंगे। तभी हम वास्तविक रूपमें देशकी रक्षामें समर्थ हो सकेंगे। जबतक हमें अपना ही ज्ञान नहीं कि हम कौन हैं, हमारा देश, हमारी संस्कृति और धर्म क्या है, तबतक सच्चे अर्थमें हम अपने-आपको अज्ञानतावश मिटाते ही रहेंगे और इसका परिणाम अन्तमें विनाश ही होगा। अतः सावधान होनेमें ही हमारी कुशल है।

इसी प्रकार गोवध-बंदी-आन्दोलन भी महात्माओं एवं धार्मिक भावुक भारतीयोंद्वारा चलाया जा रहा है। शासनसे अनेक प्रकारके उत्तर-प्रत्युत्तर चल रहे हैं। परंतु गोवध बंद होनेमात्रसे मार्गदर्शन नहीं होगा। आज जो हमने पशु-पक्षियोंको मारना, खाना, बेचना ही कर्त्तव्य अथवा खाद्य-समस्याका हल मान लिया है, इसके त्यागसे स्वयं ही मार्ग प्रशस्त होगा, इसमें कोई संदेह नहीं है।

कहा है:—

"Where there is a will, there is a way."

इन सब बातोंसे यह सिद्ध हो चुका है कि अहिंसा ही मानवका परम धर्म है और हिंसा ही पातकोंमें जघन्य पातक है। चूँकि मांसकी प्राप्ति बिना हिंसाके हो ही नहीं सकती, अतः हिंसा और मांसाहारमें प्रवृत्ति पाप और मानवमात्रके लिये अप्राकृतिक अर्थात् अधर्म है, परिणामतः पतनका कारण है। अतः मांसाहार एवं जीवहिंसाको त्यागकर, अहिंसाका अवलम्बन करके धर्मके मार्गपर आरूढ़ होना ही प्रत्येक मानवका परम पवित्र कर्त्तव्य एवं धर्म है।

आखिर हम करते क्या हैं ?

(लेखक—श्रीहरिकिशनदासजी अग्रवाल)

प्रायः हरेक मनुष्य किसी-न-किसी दौड़में चला जा रहा है; किंतु उसे यह पता नहीं कि वह कहाँ जा रहा है, उसे करना क्या है । हरेक मनुष्य जाने-अनजाने शान्तिकी खोजमें लगा है, किंतु वह जितना आगे बढ़ता है, शान्ति उतनी ही दूर आगे सरकती जाती है । जैसे हम जहाँ खड़े हैं, वहाँसे दूर, आकाश पृथ्वीके साथ मिला लगता है, किंतु ज्यों-ही हम आगे चलते हैं, आकाश और पृथ्वीका मिलन दूर होता जाता है ।

वस्तुतः आकाश तथा पृथ्वीका मिलन कभी हुआ ही नहीं; किंतु हमें मिथ्या प्रतीति होती है, जो कि भ्रान्ति है । आँखोंसे तो हमें आकाश और पृथ्वी मिलते प्रतीत होते हैं, किंतु जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते हैं, वह मिलन भी दूर होता जाता है । आगे बढ़नेपर भी हम इस भ्रान्तिका निवारण नहीं कर पाते । न समझते हुए भी समझते हैं कि आकाश और पृथ्वी दूर नहीं ।

मरुमरीचिकाका जल हमें प्रतीत होता है, किंतु यदि हम गागरमें जल लेने जायँ तो हमें कहीं जलकी प्राप्ति नहीं होती और हम घोर निराशा ले वापस लौटते हैं । जल लेनेके लिये हम ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते हैं, त्यों-त्यों जल भी आगे बढ़ता जाता है । अन्तमें मनुष्य जलकी तलाशमें हिरनकी तरह भटकता हुआ अपने प्राण दे देता है ।

हम उपाय तो करते हैं शान्तिका, किंतु हमारे हाथ अशान्ति ही लगती है । हम धन-दौलत, स्त्री-परिवार, मकान-भूमि तथा सम्पत्ति इत्यादि शान्तिके लिये एकत्र करते हैं; फिर सोचते हैं कि हमारी शादी हो जायगी तो हम शान्त हो जायँगे । शादीके बाद बच्चोंकी सोचते हैं कि बच्चे होनेपर शान्ति मिलेगी । फिर जब बच्चे हो जाते हैं, तो सोचते हैं कि जब ये बड़े हो जायँगे तब हम वानप्रस्थाश्रम स्वीकार कर लेंगे । किंतु उनकी शादी और बच्चे भी हो जाते हैं । फिर भी वे उनके मोहपाशमें इतने बँध जाते हैं कि उन्हें आयाकी तरह गोदमें उठा सारे दिन खिलाते रहते हैं । हम समझते हैं कि यही हमारे सुखका साधन है, जब कि कहीं सुखका साधन नहीं । जिंदगीका अन्त सामने दिखायी देता है, किंतु दुःखका अन्त कहीं दिखायी नहीं देता ।

हमने कई घरोंमें बड़े गौरसे देखा है कि स्त्रियाँ सारे दिन करती क्या हैं । वे आपसमें बातें करती रहती हैं, साड़ीके डिजायन अथवा किसी आभूषणके बारेमें चर्चा करती रहती हैं । अगर दूसरी स्त्रीने कोई नये जेवर पहने हों, तो मनमें ईर्ष्या शुरू हो जाती है, जो कि कामनाको जन्म देती है और कामना जबतक पूरी नहीं होती, तबतक उसीकी उधेड़बुनमें दुखी होती रहती है ।

हम प्रायः दूसरोंकी चर्चा करते रहते हैं कि वह मनुष्य ऐसा है, उसके पास इतना धन है, उसने बुढ़ापेमें नयी शादी कर ली, उसके लड़केका चाल-चलन अच्छा नहीं, उसने अमुक मोटर एवं मकान ले लिया । बस, इसी चक्करमें हमारा जीवन व्यतीत हो जाता है और हम लक्ष्यसे कोसों दूर हो जाते हैं । जीवनका लक्ष्य तो था शान्ति, पर हम अशान्त हो बैठे ।

एक छोटे-से नगरमें एक महात्मा किसी सेठसे मिलने गया । सेठ बड़ा प्रसन्न था; किंतु उसी सेठके पास वही महात्मा पाँच वर्षके बाद फिर गया तो सेठ बड़ा खिन्न था । महात्माने पूछा, 'क्यों सेठजी ! व्यापार इत्यादि तो सब ठीक है न ?' सेठ दबी आवाजमें बोला—'हाँ महाराज! व्यापार तो पहलेसे अच्छा है ।' महात्मा बोला—

'फिर आप खिन्न क्यों हैं ?' इसका उत्तर देनेमें, जब सेठको संकोच प्रतीत हुआ, तब महात्माने सेठानीसे पूछा। सेठानीने महात्माको बताया कि पहले इस नगरमें तीन मंजिलका मकान हमारा ही था; पर अब एक अन्य मकान पाँच मंजिलका बन गया है, सेठ उसीको देखकर खिन्न हो गये हैं। अब पहले-सी प्रफुल्लता उनमें नहीं।

एक महात्मा किसीके घर ठहरा। उसे सेठ बड़ा खिन्न-सा लगा। उसने जब सेठसे इसका कारण पूछा, तब सेठ बोला—'मुझे पाँच लाखका घाटा लग गया है।' महात्माने यही बात सेठानीसे पूछी कि 'सेठको घाटा कैसे लग गया है ?' सेठानीने कहा—'उन्हें पाँच लाखका घाटा नहीं लगा, बल्कि पाँच लाखका नफा हुआ है।' संतने पूछा कि 'फिर सेठ खिन्न क्यों है ?' सेठानी बोली—'उन्हें दस लाख नफेकी आशा थी, पर मिला केवल पाँच ही; इस कारण आपको उन्होंने पाँच लाखका घाटा बताया।'

नफेमें भी यदि हम घाटा ही देखेंगे, तो घाटेमें क्या देखेंगे—यह तो ईश्वर ही जाने।

हमारी सारी दौड़ व्यर्थके चिन्तन और चिन्तामें ही समाप्त हो रही है और शक्तिका ह्रास हो रहा है। हम दूसरोंकी चर्चा तो करते हैं, किंतु अपने बारेमें कुछ नहीं जानते। जबतक हम अपने बारेमें नहीं जानेंगे, तबतक बाहरके पदार्थ, व्यक्ति अथवा विषयका आनन्द व्यर्थ है।

हम किसीकी शादीपर जाते हैं तो दो-तीन दिन-तक उसीके बारेमें चर्चा करते रहते हैं कि भोजनमें—दहीवड़ोंमें नमक और बर्फीमें मीठा अधिक था और घरवालोंने चटनी तो रखी ही नहीं। ऐसी-ऐसी व्यर्थकी बातें करते रहते हैं, जिनका न आगा है न पीछा; किंतु हमें मन लगानेके लिये कुछ-न-कुछ बात करने-को चाहिये। हमें एक क्षण भी निष्क्रिय बैठना नहीं आता; घरमें और कुछ नहीं होगा तो हम रेडियो ही लगा लेंगे। रेडियोके गाने सुनना बुरी बात नहीं, किंतु सारे-सारे दिन उसे ही सुनते रहना कहाँतक ठीक है ? फिर आजकल तो सरकारने रेडियोमें व्यापारी विज्ञापन भी शुरू कर दिया है, जिससे संगीत होता है ३ मिनिटका और विज्ञापन होता है ६ मिनिटका। यह भी दूसरोंके बारेमें ही जानकारी है, अपने बारेमें नहीं।

हम किसी स्त्रीकी ओर देखते हैं कि यह लंबी अथवा नाटी, गोरी अथवा काली है, उसके बाल ऐसे हैं, आँखें ऐसी हैं; ऐसी कई प्रकारकी कल्पनाएँ उसके बारेमें करते रहते हैं। अगर स्त्री जैसी है, उसे वैसी ही देखें और अपनी कल्पनाको न दौड़ायें तो वह देखना सही देखना हो जाय। देखनेके साथ जब कल्पनाएँ मिल जाती हैं, तब हमारा देखना विकृत हो जाता है। अगर मनुष्य सुबहसे शामतक अपने कृत्योंकी डायरी रखे और उसे एक माह बाद देखे तो उसे ऐसा प्रतीत होगा कि जैसे वह पागल है; क्योंकि पागलखानेके पागल भी यही सब करते हैं। उनमें भी विचारोंकी तीव्रता है। 'मैं यह कर दूँगा', 'उसे मार दूँगा', 'उसने मुझे क्या समझ रखा है ?' पागल इस प्रकारकी बातें करते रहते हैं, इसलिये वे पागल हैं। पागल दूसरोंको तो पागल समझता है, पर अपने-आपको नहीं। यही तो पागलपन है। जिस मनुष्यको अपने पागलपनका पता लग जाय, वह कभी पागल नहीं रह सकता। बिना प्रयोजन और बिना लक्ष्यका चिन्तन और चिन्ता—यही तो हम सारे दिन करते रहते हैं, जिससे समयकी बर्बादी होती है और जीवनका ह्रास हो जाता है। किंतु हमने सोचा ही नहीं कि हम इस दुनियामें किस लिये आये हैं और हमारा लक्ष्य क्या है। हम संत पुरुषोंके पास जाते ही नहीं; हम समझते हैं कि साधुओंमें रखा ही क्या है। हम साधुओंको भी असाधुवृत्तिसे ही देखते हैं, साधु भी हमें असाधु ही दिखायी देते हैं।

जब मनुष्यकी ऐसी स्थिति हो जाती है, तब उसे कोई भला दीखता ही नहीं। वह अपने अहंकारमें इतना फूला रहता है कि हर बातमें—'मैं-मैं' करता रहता है। 'मैंने ऐसे किया, मैंने वैसे किया, अगर मैं न होता तो शायद प्रलय हो जाता, यह विचार मेरा है, यह काम मैंने ही किया'—इस प्रकारके व्यर्थ चिन्तनमें हम जीवन खो देते हैं। जब कि जीवन वर्तमानमें है; पल-पल, क्षण-प्रतिक्षण जीना है। अगर हमने क्षणभर जीना नहीं सीखा तो हमने जीना ही नहीं सीखा। जो मनुष्य क्षणभर जीना जानता है, उसने जीनेका रहस्य समझ लिया है और जो व्यर्थ चिन्तन तथा चिन्तामें समय बर्बाद करता है, वह जीवनको खो देता है।

अगर हमारा करना लक्ष्यके लिये है तो हमारा हरेक काम हमें लक्ष्यके समीप ले जायगा, लक्ष्य हमें सदा याद बना रहेगा। हमारा सोचना-विचारना, उठना-बैठना, देखना-सुनना किसी उद्देश्यको लेकर होगा और उद्देश्यपूर्तिका जीवन मनुष्यको दुखी एवं अशान्त होनेसे बचा सकता है, एक-न-एक दिन उसे लक्ष्यकी प्राप्ति करा देता है।

वह अनोखा दाता है

(लेखक—श्रीराधेश्यामजी बंका, एम्० ए०)

सूर्य अपना प्रकाश देता है, अपनी उष्णता देता है और देता है सभीको। सूर्यकी दृष्टिमें भेद नहीं। जलको, थलको; जडको, चेतनको; पूर्वको, पश्चिमको; मूर्खको, पण्डितको—सभीको समानरूपसे अपना प्रकाश और अपनी उष्णता दे रहा है। न जाने कबसे दे रहा है और न जाने कबतक देता रहेगा। उसका दान सभीके लिये उन्मुक्त है। कोई शर्त नहीं, कोई मूल्य नहीं; जो लेना चाहे, ले, जितना लेना चाहे, ले; सूर्यकी ओरसे कोई प्रतिबन्ध नहीं। यह हमपर है कि उसके प्रकाशको स्वीकार करनेके लिये हमारे द्वार खुले हैं अथवा बंद। उसकी उष्णतासे हम लाभ उठाते हैं अथवा नहीं।

लहलहाती और महमहाती वाटिकाका सौन्दर्य और सौरभ किसके मनको नहीं मोह लेता? खिले पुष्पोंने वाटिकाको सौन्दर्य और सौरभसे आपूर्ण कर दिया। जो भी वाटिकामें आया, जो भी पुष्पोंके समीप खड़ा हुआ, उसे देखने और सूँघनेका सुख मिला। हर एक देखे, हर एक सूँघे। वाटिकाके सौन्दर्य और सौरभपर कोई प्रतिबन्ध नहीं। कोई भी आकर देख सकता है, सूँघ सकता है। जितनी देर चाहे, देखो और सूँघो; पर न कभी पुष्प मना करते हैं और न कभी वाटिका रोकती है। अब यह हमपर है कि वाटिकाके पुष्पोंके सौन्दर्यका, सौरभका दान स्वीकार करते हैं अथवा नहीं।

हमारी-तुम्हारी स्वीकृतिसे निरपेक्ष होकर सूर्य अपना सर्वस्व दे रहा है, वाटिका अपना सर्वस्व दे रही है। जिस प्रकार सूर्य और वाटिका उसकी सृष्टि हैं, उसी प्रकार चाँद और सितारे, सरिता और सागर, वन और उपवन—सभी सृष्टि उसीकी है और सम्पूर्ण सृष्टिका दान निरपेक्ष है, निरन्तर है। सभी दाता हैं। वैसे ही दाता हैं, जैसा दाता है इनको सृजन करनेवाला। जैसा स्रष्टा, वैसी ही सृष्टि।

स्रष्टाने सूर्य और चन्द्रमाकी, वन और वाटिकाकी, सरिता और सागरकी सृष्टि की। मानवमात्रके लिये सूर्यकी सम्पत्ति है, चन्द्राकी चाँदनी है, वनकी वनस्पति है, वाटिकाका वैभव है, सरिताका जल है, सागरका भंडार है। कोई भेदभाव नहीं। कोई छोटा और बड़ा

नहीं। आस्तिक और नास्तिकका कोई अन्तर नहीं। उसकी सम्पूर्ण श्री सभीके लिये है, उसकी सम्पूर्ण सृष्टि सभीके लिये है। इतना ही नहीं, वह स्वयं भी सभीके लिये है। वह विश्वके मङ्गलका विधान करता है, अमङ्गलका निवारण करता है। उसे सभी मानव प्यारे हैं, उसके अपने हैं। उसका प्रत्येक कार्य विश्व-मङ्गलकी भावनासे प्रेरित है और विश्व-मङ्गलमें प्रतिफलित होता है।

हम जानें अथवा न जानें, जानकर भी मानें अथवा न मानें, पर एक है, जो जाननेवालेको भी देता है और न जाननेवालेको भी; माननेवालेको भी देता है और न माननेवालेको भी। जो उसकी स्तुति करते हैं, उनको वह प्यार करता है और जो अस्तुति करते हैं, उनको भी प्यार करता है। उसका अस्तित्व तुम स्वीकार करो तो, इन्कार करो तो, तुम कुछ भी करो, वह तुमको देता ही रहता है। देता-ही-देता है—वह दे रहा है और देता ही रहेगा। उसका देना हमारी-तुम्हारी मान्यतापर निर्भर नहीं है। उसका दान हमारे-तुम्हारे ज्ञानाज्ञान-सापेक्ष नहीं है। वह अनोखा दाता है, जो अनन्त कालसे सभीको सब कुछ देता चला आ रहा है और अनन्त कालतक अनवरत देता रहेगा।

स्वर्ण-क्षुधा

[ऐतिहासिक कहानी]

(लेखक—श्रीरामजी खरे 'कुमुद')

भारतपर सम्राट् सिकंदरने आक्रमण किया। भारतकी पवित्र भूमिमें प्रवेश करनेके लिये उसे सर्वप्रथम अजेय योद्धा वीर महाराज पौरवराजसे युद्ध करना नितान्त आवश्यक था। सिकंदर पौरवके बल-पराक्रमको सुन चुका था, अतः वह अपने सैनिकोंको सिंधु नदीके उसी पार छोड़कर एक दूतके वेषमें पौरवराजसे मिलने आया।

महाराज पौरव देश-भक्त वीर योद्धाके साथ ही मानव-पारखी भी थे। उन्होंने सिकंदरको छद्मवेषमें भी पहचान लिया, किंतु प्रकट नहीं किया; यद्यपि सिकंदरने अपना रूप बड़ी दक्षतासे बदला था। सम्राट् सिकंदरने राजदूतके वेषमें महाराजसे अपने सम्राट्का संदेश कहा कि 'सिकंदर मनुष्योंके पैरपर तो क्या, सिरपर पैर रखकर भी चल सकनेमें समर्थ हैं। वे अनगिनत राजा-महाराजाओंके राजमुकुटोंका मूल्य एक मामूली गेंदसे ज्यादा नहीं समझते। उन्होंने कितने मुकुटोंको गेंदकी तरह उछालकर फेंक दिया है और वही सम्राट् आज आपसे मित्रता करना चाहते हैं। आप उन्हें पंजाबके बीचमेंसे भारतकी राजधानी दिल्लीकी ओर जाने दें। आपकी इस कार्यसे क्षति नहीं होगी। अतः आपको सम्राट्के संदेशका स्वागत करना चाहिये।'

पौरवराजने संदेश सुना और मुस्कराकर बोले—'राजदूत! हम तो देशके सेवक पहिले हैं, बादमें किसीके मित्र। जिससे हमारे देशको या देशकी स्वतन्त्रताको हानि पहुँचे, ऐसा कोई भी कार्य हम नहीं कर सकते। आपके सम्राट् सामर्थ्यवान् हैं; हमारे सिरोंको कुचलकर ही भारतकी राजधानीतक जा सकेंगे। रही बात मित्रताकी, तो हम तो सारे विश्वको ही अपना मित्र मानते हैं। हम देशके दुश्मनोंसे भी हाथ मिलानेको तैयार हैं, किंतु महलोंमें नहीं; रणक्षेत्रमें तलवारें ही हाथ मिलायेंगी।'

इस उत्तरके साथ ही महाराजने राजदूतको भोजन-हेतु आमन्त्रित किया। दरबार खतम होते ही महाराज पौरव अपने मित्रों, स्वजनों, मन्त्रियों, सेनापति एवं अतिथिके साथ भोजनशालामें पधारे। सूर्यरश्मियों-जैसे चमकते स्वर्ण-रजतके पात्रोंमें भोजन परोसा गया। सभीकी थालियोंमें भोजन परोसा गया, पर राजदूतकी थाली खाली थी। वह हैरान सा महाराजकी ओर देख रहा था।

'अब हमारे अतिथिका प्रिय भोजन इन्हें परोसा जाय।' राजाने आज्ञा दी।

आज्ञा पाते ही सोनेकी थालीमें दो सोनेकी गोटियाँ एवं चाँदीके कटोरेमें हीरे-मोतियोंका चूर्ण राजदूतवेषधारी सिकंदरको परोसा गया।

पञ्चकवलके बाद सभीने भोजन प्रारम्भ किया, पर सिकंदर अपनी इस अवमाननासे आश्चर्य-चकित हो रहा था।

'अतिथि ! हमें अफसोस है कि हम इससे मँहगा भोजन प्रस्तुत करनेमें असमर्थ हैं।'

सिकंदर तिलमिला उठा। वह बोला—'यह क्या मजाक है, पौरवराज ?'

'मित्र ! यह मजाक नहीं है, आपका प्रिय भोज्य ही आपको दिया गया है। अब ये रोटियाँ और शाक अपने सम्राट्को जाकर देना और कहना कि वे इसी भोजनसे अपनी भूख बुझायें।'

विश्व-विजयका स्वप्न देखनेवाला सिकंदर तड़प उठा। उसने कहा—'क्या आजतक किसीने सोने-चाँदीकी रोटियाँ खायी हैं, जो मैं खाता ?'

'मेरे प्रिय मित्र सिकंदर ! जब तुम जानते हो कि पेट सोनेकी रोटियोंसे नहीं भरता, सिर्फ अनाजकी रोटियाँ ही पेटकी क्षुधा तृप्त कर सकती हैं, तब फिर उन्हीं सोने-हीरे-मोतियोंके लिये क्यों तुम करोड़ों घर बर्बाद करते फिर रहे हो ? क्यों संसारको नष्ट करनेपर तुले हो ? अन्नके खेत क्या मानव-रक्तसे लहलहाते हैं ? नहीं, उन्हें तो पसीनेकी खाद और शान्तिकी हवा चाहिये, जिसे तुम नष्ट कर रहे हो। तुम्हें अनाजके बदले सोने-चाँदीकी भूख ज्यादा थी, इसी कारण मैंने तुम्हारे लिये सोनेकी रोटियाँ बनवायी थीं।'

अपने पहचाने जानेसे सिकंदर काफी लज्जित हुआ। वह बुरी तरह घबरा गया था। पर राजा पौरवने बड़े प्रेमसे उसे भोजन कराया और उसकी सेनामें भी भिजवा दिया।

महाराज पौरवकी इस सीखसे सम्राट् सिकंदर जाग उठा। भारतसे लौटनेपर फिर उसने किसी देशपर चढ़ाई नहीं की। उसकी समझमें यह बात अच्छी तरहसे आ गयी कि मनुष्यकी भूख सोने-चाँदीसे नहीं, अनाजसे ही शान्त होती है और अनाज पैदा करनेमें परिश्रमकी आवश्यकता होती है, लड़ाई-झगड़े या खून-खराबीकी नहीं।

दुःखमें सुख

(लेखक—श्रीरामेश्वरजी टाँटिया)

पुराने जमानेमें भारतके अन्य विभागोंकी भाँति राजस्थानमें भी ऐसी मान्यता थी कि अगर किसी व्यक्तिकी अर्थीमें पुत्रका हाथ नहीं लगे या क्रिया-कर्म करनेके लिये पुत्र न हो तो उसे मोक्ष नहीं मिलता। इसलिये वहाँ 'निपूते'की गाली बहुत खराब मानी जाती थी। पुत्र-प्राप्तिके लिये लोग व्रत-पूजन और कठिन तपस्या करते थे।

शेखावाटी अञ्चलके एक शहरमें एक धनाढ्य सेठ थे। सब प्रकारकी धन-सम्पत्तिसे भरा-पूरा घर होनेपर भी पति-पत्नी संतानके बिना दुखी रहते थे। उन्होंने अनेक प्रकारके व्रत-उपवास, दान-धर्म और तीर्थयात्रा की; परंतु परमात्माने उनकी एक न सुनी। प्रौढावस्था होने लगी, तब एक प्रकारसे दोनों निराश-से हो गये। पड़ोसमें उन्हींकी जातिका एक गरीब परिवार था, जिनके यहाँ सात लड़के थे। एक दिन दोनों पति-पत्नी उनके घर गये। देखा कि डेढ़-दो वर्षसे लेकर चौदह-सोलह वर्षतकके बच्चे आँगनमें खेल रहे थे। उन्हें देखकर दोनोंकी आँखें जुड़ा गयीं। सेठानीने गृहस्वामिनीसे कहा—'बहिन ! लोग मुझे 'निपूती' कहकर ताना देते हैं। तुम्हारे सेठजी जब दूकानसे सूने घरमें आते हैं तो दुखी-से रहते हैं। मैं तुम्हारेसे आँचल पसारकर एक बच्चेकी भीख माँग रही हूँ। परमेश्वरने तुम्हें सात दिये हैं—इनके सात सौ हो जायँ।'

बहुत आरजू-मिन्नतके बाद भी उन लोगोंको निराश लौटना पड़ा।

फतेहपुर (शेखावाटी) के पासके एक टीलेपर नाथ-सम्प्रदायके एक महात्माजी रहते थे। सब प्रकारसे निराश होकर एक दिन वे उनकी शरणमें गये और पैर पकड़कर रोने लगे।

कहते हैं कि नाथजी महाराज वचन-सिद्ध थे।

उन्होंने कहा कि 'अकालका वर्ष है, भूखे-नंगे बच्चोंका पालन करो—भगवान् तुम्हारी सुनेगा।'

अपने गाँव आकर वे एक बड़े नोहरेमें गरीबोंके भूखे बच्चोंको खिलाने-पिलाने लगे। दोनों पति-पत्नी सारे दिन उनकी देखभाल करते रहते।

भगवान्की कृपासे एक वर्षके भीतर ही उनके घरमें पुत्र-जन्म हुआ। उस अवसरपर सेठजीने जी खोलकर दान-धर्म और पूजा-पाठ किया। सारे गाँवमें मिश्री-बादाम भेजे।

बच्चेको लेकर नाथजी महाराजकी सेवामें गये। महाराजजीने कहा कि 'आप दोनोंकी अवस्था भगवान्के भजन करनेकी है। संसारकी मोह-मायामें जितना कम पड़ोगे, उतना ही अच्छा है।'

सेठ-सेठानी उस समय इतने हर्ष-विभोर थे कि नाथजीकी इस गूढ़ बातपर उन्होंने ध्यान नहीं दिया।

सुखके दिन बीतते देर नहीं लगती। देखते-देखते बिहारी स्वस्थ, सोलह वर्षका हो गया। बहुत ही सुन्दर, शिक्षित और विनयी।

दीपावलीके बाद वे प्रतिवर्ष महाराजजीके पास बिहारीके साथ प्रणाम करने जाते थे। उस बार उन्होंने जब उसके विवाहके करनेकी आज्ञा चाही, तब महाराजजीने टाल-मटोल कर दी और कहा कि 'इतनी जल्दी क्या है?'

इकलौता लाड़-प्यारका बालक था। सेठ-सेठानी कभी उसे आँखोंसे ओझल नहीं होने देते थे। कभी-किसी दिन उसका पेट या सिर दुखने लगता तो वैद्य-डाक्टरोंसे घर भर जाता। परंतु कहते हैं कि मृत्यु सौ रास्ते बना लेती है।

राजस्थानमें जिस दिन अच्छी वर्षा हो जाती है, लोग हर्ष-विभोर होकर तालाब—पोखरेमें कितना पानी जमा हुआ है, यह देखनेको जाते हैं। पानीको सिरसे लगाकर आचमन करते हैं।

ऐसे ही एक दिन बिहारी मित्रोंके साथ गाँवके जोहड़पर गया था। आचमन करते समय पैर फिसल गया और क्षणभरमें ही वह जलमग्न हो गया। बहुत बड़ा तालाब भी नहीं था, परंतु साथियोंके बहुत प्रयत्न करनेपर भी कुछ फल नहीं निकला।

सेठ-सेठानीका बुरा हाल था। पागल-से हो गये वे। तालाबमें डूबनेके लिये जिद करने लगे। लोगोंने मुश्किलसे पकड़कर रक्खा।

दूसरे दिन ही दोनों महाराजजीके टीलेपर जाकर उनके पैर पकड़कर बैठ गये। कहने लगे कि 'आपने हमें इस बुढ़ापेमें उलटा दुखी कर दिया। इससे तो अच्छा होता कि हमारे पुत्र पैदा ही न होता।'

नाथजीने बहुत समझानेका प्रयत्न किया कि 'जो कुछ होता है, सब ईश्वरेच्छासे होता है और मनुष्यको उसे शिरोधार्य करना ही चाहिये। बिहारीसे तुम्हारा इतने दिनोंका ही सम्बन्ध था।'

बहुत विनती-प्रार्थनापर महाराजने कहा कि 'एक गरीब अनाथ बच्चोंका स्कूल खोलकर उनकी पढ़ाईकी और रहने-खानेकी व्यवस्था करो।'

सेठजीने अपने एक मकानमें ही इस प्रकारके एक छोटे बच्चोंका स्कूल खोल दिया। दोनों पति-पत्नी दूसरे सारे कार्योंको छोड़कर सुबहसे शामतक उनकी शिक्षा, देखभाल और खाने-पिलानेकी व्यवस्था करने लगे।

बच्चे उनसे इतने हिल-मिल गये कि उन्हें 'माताजी-पिताजी' कहने लगे। कभी उनकी गोदमें जाकर बैठ जाते तो कभी पीछेसे आकर आँखें बंद कर देते। कभी कोई बच्चा बीमार हो जाता तो उनके हाथसे दवा लेनेकी जिद करने लगता।

'महाराज आपके आदेशका हम पालन कर रहे हैं। हमें उन बच्चोंमें अपना बिहारी मिल गया।'

'कल्याण'का आगामी विशेषाङ्क—'श्रीरामाङ्क'

[सम्मान्य लेखक महानुभावोंसे सादर प्रार्थना]

संयम, सदाचार, स्वार्थत्याग, माता-पिता एवं अन्य गुरुजनोंका सम्मान एवं सेवा, परस्पर सौहार्द तथा प्राणिमात्रकी भगवद्बुद्धिसे सेवा—भारतीय धर्म एवं संस्कृतिके आधारस्तम्भ हैं। वर्तमान युगमें इन सभी आदर्श गुणोंका जगत्में शोचनीय ह्रास हो रहा है। सर्वत्र अनाचार, दुराचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार, व्यभिचार, मर्यादाहीनता एवं उच्छृङ्खलताका बोलबाला है। सत्यनिष्ठा, ब्रह्मचर्य एवं मर्यादित जीवनका लोप-सा हो रहा है। भोगलिप्सा अमर्यादरूपसे बढ़ रही है। परस्पर विद्वेष एवं कलह, मुकदमेबाजी, चोरी-डकैती, मार-काट, जीव-हिंसा, परस्वापहरण, घूसखोरी एवं स्वार्थपरायणता सीमाको पार कर चुके हैं। विद्यार्थियोंमें अनुशासनहीनता, गुरुजनोंके प्रति अवज्ञा तथा उद्दण्डता स्वभावगत हो गयी है। हमारे निकटतम पड़ोसी बँगलादेशमें अधिकारोन्मत्त शासकोंद्वारा मानवताका जो भीषण संहार हो रहा है, उसने विश्वकी आत्माको दहला दिया है।

इस घोर नैतिक पतनसे समाज, देश एवं विश्वकी रक्षा मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामके चरित्रके, जो सभी दृष्टियोंसे आदर्श था, अनुशीलन एवं अनुकरणसे ही हो सकती है। इसके अतिरिक्त श्रीराम और श्रीकृष्ण भारतीय संस्कृतिके प्राण ही नहीं, हम भारतीयोंके जीवन-सर्वस्व हैं। इनकी उपासना देशके सभी विभागोंमें तथा सनातन आर्यधर्मके सभी सम्प्रदायोंमें व्यापकरूपसे प्रचलित है। भगवान् श्रीकृष्णके बहुमुखी जीवन, स्वरूप एवं चरित्रका 'कल्याण'के श्रीकृष्णाङ्कमें विशदरूपसे विवेचन हो चुका है। इसी प्रकार श्रीरामका ऐतिहासिक एवं नित्य-स्वरूप, चरित्र एवं उपासना भी सबके लिये विशेषरूपसे मननीय एवं विवेचनीय हैं, यही सोचकर आगामी वर्षके विशेषाङ्कके रूपमें 'कल्याण'का 'श्रीरामाङ्क' निकालनेका निश्चय किया गया है। आशा है, इस निश्चयका 'कल्याण'के सभी पाठक एवं पाठिकाएँ हृदयसे अनुमोदन एवं अभिनन्दन करेंगे। हमारे इस प्रयासकी सफलता 'कल्याण'-पर अहैतुकी कृपादृष्टि रखनेवाले तथा 'कल्याण'को सदा अपना माननेवाले अनुभवी संत-महात्माओं, आचार्यों एवं विद्वान् लेखकोंके कृपापूर्ण सहयोग एवं सद्भावनापर ही निर्भर है। आशा है, सदाकी भाँति इस बार भी वे हमें प्रचुरमात्रामें प्राप्त होंगे।

यद्यपि श्रीरामसे सम्बन्ध रखनेवाले 'रामायणाङ्क', 'मानसाङ्क', 'संक्षिप्त वाल्मीकि-रामायणाङ्क' तथा 'श्रीरामवचनामृताङ्क'के रूपमें चार विशेषाङ्क पहले निकल चुके हैं, फिर भी श्रीरामभक्तोंकी माँग रही है कि 'श्रीकृष्णाङ्क'की भाँति स्वतन्त्र रूपसे 'श्रीरामाङ्क' भी निकाला जाय, जिसमें श्रीरामके स्वरूप तथा उनके आदर्श चरित्रके विभिन्न पहलुओं-पर प्रकाश डाला जाय। इसी पवित्र अभिसंधिसे इस बार 'श्रीरामाङ्क' निकालनेका विचार किया गया है। लेख हिंदी, अंग्रेजी, संस्कृत, बँगला, मराठी अथवा गुजरातीमें भेजे जा सकते हैं। विशेषाङ्कमें कौन-कौनसे विषय रहेंगे, इसका दिग्दर्शन करानेके लिये एक संक्षिप्त विषय-सूची नीचे दी जा रही है। लेखक महोदय चाहें तो विषय-सूचीके अतिरिक्त किसी अन्य श्रीराम-सम्बन्धी विषयपर भी लेख भेज सकते हैं। लेख स्पष्ट, सुवाच्य, संक्षिप्त एवं विषयसे सम्बद्ध होने चाहिये तथा हाशिया छोड़कर पंक्तियोंके बीचमें पर्याप्त अन्तर देकर पन्नेके एक ही ओर लिखने चाहिये। एक ही विषयपर बहुत लेख आनेपर सारे लेखोंको देना सम्भव नहीं होगा, केवल चुने हुए लेख ही दिये जा सकेंगे।

सैकड़ों लेखोंको पढ़ने तथा उनमेंसे छापने-योग्य सामग्रीको छाँटने, सजाने, चित्र तैयार कराने तथा पौने दो लाख अङ्क छापनेमें पर्याप्त समय अपेक्षित होगा। इसलिये लेखक महोदयोंसे प्रार्थना है कि वे अपनी बहुमूल्य रचनाएँ जूनके अन्ततक अवश्य भेज दें, जिससे अङ्क समयपर निकाला जा सके। देरीसे आनेवाली रचनाओंको स्वीकार करनेमें कठिनाई होगी। साथ ही लेखक महोदयोंसे प्रार्थना है कि लेख भेजनेका कष्ट वे ही करें, जिनका विषयपर अधिकार हो, जो लेखनकलासे परिचित हों तथा जो अपने भावोंको सुचारुरूपसे एवं सुपाठ्यरूपमें व्यक्त कर सकें।

विनीत—चिम्मनलाल गोस्वामी—सम्पादक

'कल्याण' के आगामी अर्थात् जनवरी १६७२ के विशेषाङ्क—
'श्रीरामाङ्क'की प्रस्तावित संक्षिप्त विषय-सूची

१–'शुद्ध ब्रह्म परात्पर राम'
२–मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम
३–भुवनमङ्गल श्रीराम
४–विश्वमोहन श्रीराम
५–श्रीराम-तत्त्व
६–श्रीसीता-तत्त्व
७–श्रीसीताराम-तत्त्व
८–'गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न'
९–'रामस्तु भगवान् स्वयम्'
१०–'रामो विग्रहवान् धर्मः'
११–त्याग और तपकी आदर्श मूर्ति भगवान् श्रीराम
१२–श्रीराममें भगवत्ता और मानवताका अद्भुत सम्मिश्रण
१३–शील, शक्ति एवं सौन्दर्यके मूर्तिमान् विग्रह श्रीराम
१४–'महिमा नाम रूप गुन गाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा ॥'
१५–अनन्त अप्राकृत गुणगणोंके निलय भगवान् श्रीराम
१६–'निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहै'
१७–भगवान् श्रीरामका लोकरक्षक रूप
१८–भगवान् श्रीरामका लोकरञ्जक रूप
१९–श्रीरामावतारकी विशेषता
२०–भगवान् श्रीरामके अवतारका प्रयोजन
२१–भगवान् रामकी जन्मकुण्डली और आविर्भाव-काल
२२–भगवान् शिवके उपास्य श्रीराम
२३–भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णकी लीलाओंमें समता-विषमता
२४–भगवान् श्रीरामका अद्भुत सौन्दर्य
२५–भगवान् श्रीरामका अद्भुत शील-स्वभाव
२६–'उमा राम सुभाउ जिन्ह जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना ॥'
२७–भगवान् श्रीरामके आदर्श गुण
२८–भगवान् श्रीरामकी देवभक्ति
२९–भगवान् श्रीरामकी गुरुभक्ति
३०–भगवान् श्रीरामकी मातृभक्ति
३१–भगवान् श्रीरामकी पितृभक्ति
३२–भगवान् श्रीरामका भ्रातृप्रेम
३३–भगवान् श्रीरामका आदर्श पत्नीप्रेम
३४–भगवान् श्रीरामका एकपत्नीव्रत
३५–भगवान् श्रीराम पिताके रूपमें
३६–भगवान् श्रीरामकी प्रजावत्सलता
३७–आदर्श राजा श्रीराम
३८–भगवान् श्रीरामकी मैत्रीका आदर्श
३९–भगवान् श्रीरामकी ब्रह्मण्यता
४०–भगवान् श्रीरामकी भक्तवत्सलता
४१–भगवान् श्रीरामकी शत्रुवत्सलता
४२–भगवान् श्रीरामकी लोकप्रियता
४३–भगवान् श्रीरामकी आदर्श राजनीति
४४–भगवान् श्रीरामका कलाप्रेम
४५–भगवान् श्रीरामकी आदर्श युद्धनीति
४६–वेदोंमें भगवान् श्रीराम
४७–उपनिषदोंमें भगवान् श्रीराम
४८–पुराणोंमें भगवान् श्रीराम
४९–योगवासिष्ठके श्रीराम
५०–वाल्मीकिके श्रीराम
५१–विभिन्न रामायणोंमें भगवान् श्रीराम
५२–तन्त्र-ग्रन्थोंमें श्रीराम
५३–पञ्चरात्र आगममें भगवान् श्रीराम
५४–काव्य और महाकाव्योंमें भगवान् श्रीराम
५५–नाटक-ग्रन्थोंमें भगवान् श्रीराम
५६–वैष्णव-प्रबन्धोंमें भगवान् श्रीराम
५७–जैन और बौद्ध मतोंकी श्रीरामकथाएँ
५८–श्रीशांकर-सम्प्रदायमें श्रीरामोपासना
५९–श्रीवैष्णव (रामानुज) सम्प्रदायमें भगवान् श्रीराम
६०–श्रीवैष्णव (रामानन्द) सम्प्रदायमें भगवान् श्रीराम
६१–श्रीवल्लभ-सम्प्रदायमें भगवान् श्रीराम
६२–श्रीमध्व-सम्प्रदायमें भगवान् श्रीराम

६३–गौडीय मध्व-सम्प्रदायमें भगवान् श्रीराम
६४–श्रीविष्णुस्वामीके मतमें श्रीराम
६५–श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायमें भगवान् श्रीराम
६६–श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदायमें भगवान् श्रीराम
६७–अन्यान्य सम्प्रदायोंमें भगवान् श्रीरामकी उपासना
६८–सिख मत और 'राम' नाम
६९–श्रीरामस्नेही-सम्प्रदायमें रामोपासना
७०–कबीरपंथ और श्रीराम
७१–तुलसीके श्रीराम
७२–सूरदासका रामचरितचित्रण
७३–केशवदासका श्रीरामचरितचित्रण
७४–अन्यान्य कवियोंका रामचरितचित्रण
७५–'राम सकल नामन्ह ते अधिका।'
७६–'रामु न सकहिं नाम गुन गाई।'
७७–भगवान् श्रीरामका नित्य धाम—श्रीसाकेत
७८–श्रीअयोध्यापुरीका स्वरूप, माहात्म्य एवं उसकी स्थिति
७९–भगवान् श्रीरामका वनगमन-मार्ग
८०–भगवान् श्रीरामके समयका भारत
८१–श्रीरामकालीन भूगोल
८२–श्रीरामसम्बन्धी तीर्थ और उनकी खोज
८३–श्रीरामके समयकी सामाजिक स्थिति
८४–श्रीरामके समयकी सांस्कृतिक स्थिति
८५–भगवान् श्रीरामके परिकर और परिच्छद
८६–भगवान् रामकी पञ्चाङ्गोपासना
८७–भगवान् श्रीरामकी चतुर्व्यूहोपासना
८८–श्रीसीताकी उपासना-विधि
८९–भगवान् श्रीसीता-रामकी युगल-उपासना
९०–श्रीसीता-कवच, स्तोत्र, मन्त्र-तन्त्र, सहस्रनाम आदि
९१–श्रीरामसम्बन्धी कतिपय श्रेष्ठ स्तोत्र, सहस्रनाम आदि
९२–भरत-कवच, स्तोत्र, मन्त्र एवं पञ्चाङ्ग-उपासना
९३–लक्ष्मण-कवच, स्तोत्र, मन्त्र एवं पञ्चाङ्ग-उपासना
९४–शत्रुघ्न-कवच, स्तोत्र, मन्त्र एवं पञ्चाङ्ग-उपासना
९५–हनुमत्-कवच, स्तोत्र, मन्त्र, पञ्चाङ्ग-उपासना आदि
९६–श्रीरामके दर्शनार्थ विविध प्रयोग
९७–उपनिषदोंमें श्रीरामके साक्षात्कारके साधन
९८–भगवान् श्रीराम-सम्बन्धी व्रत
९९–श्रीरामनवमी-व्रतविधि
१००–श्रीजानकीनवमी-व्रतविधि
१०१–श्रीरामार्चाविधि
१०२–भगवान् श्रीरामके विविध ध्यान
१०३–भगवान् श्रीरामके निवासस्थान
१०४–रामसेवक श्रीहनुमान्
१०५–शरणागत भक्त विभीषण
१०६–श्रीरामभक्त विविध पशु-पक्षी
१०७–श्रीरामभक्त जटायु
१०८–भगवान् सूर्य और उनका वंश
१०९–भगवान् श्रीरामके पूर्वज
११०–श्रीराम—एक ऐतिहासिक महापुरुष
१११–रामभक्तिकी निर्गुण परम्परा
११२–श्रीरामभक्तिमें मधुर उपासना
११३–श्रीरामकी रासलीला
११४–श्रीरामभक्तोंकी विस्तृत परम्परा
११५–विविध देश-विदेशोंमें श्रीरामोपासना
११६–बालीद्वीपकी श्रीरामोपासना-पद्धति
११७–श्रीराम-सम्बन्धी कतिपय श्रेष्ठ सूक्तियाँ
११८–देश-विदेशोंमें श्रीरामलीलाकी परम्परा
११९–देश-विदेशके श्रीराम-मन्दिर
१२०–श्रीरामके सम्बन्धमें पाश्चात्त्य विद्वानोंके कुछ विचित्र अनुसंधान और उनकी समीक्षा
१२१–रामराज्यका स्वरूप और उसकी महत्ता
१२२–'रामराज कर सुख संपदा। बरनि न सकइ फनीस सारदा॥'
१२३–भगवान् श्रीरामकी आदर्श दिनचर्या
१२४–विभिन्न भारतीय भाषाओंमें श्रीरामचरित
१२५–श्रीरामका अनुसरण ही शरण
१२६–मन्त्र-रामायण और मन्त्र-भागवत
१२७–भगवान् श्रीरामकी लीलाओंका तिथिक्रमसे वर्णन
१२८–विशिष्ट श्रीराम-साहित्य
१२९–देशकी वर्तमान विघटनात्मक परिस्थितिको सुधारनेके लिये श्रीरामचरित्रकी उपयोगिता
१३०–मानस चतुश्शती-समारोह-सम्बन्धी कार्य-कलाप—उनकी रूपरेखा
१३१–भगवान् रामके कुछ रोचक कथा प्रसङ्ग

परमार्थ-पत्रावली

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पुराने पत्र)

(१)

सादर विनयपूर्वक प्रणाम। आपका कार्ड मिला। समाचार विदित हुए। आपके प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है—

१—'लिङ्ग' शब्दका अर्थ है—चिह्न (प्रतीक)। इसी प्रकार मूर्ति भी प्रतीक ही है। अतः दोनोंमें कोई भेद नहीं है। बोलचालकी भाषामें 'लिङ्ग' शब्दका अर्थ जननेन्द्रिय मान लेनेके कारण ही यह प्रश्न उठता है, पर वास्तविकता इससे भिन्न है।

इसके अतिरिक्त ऐसी बात भी नहीं है कि शंकर भगवान्‌की मूर्तिपूजा नहीं होती; शिवजीकी मूर्तिकी पूजा भी होती है। वेद-मन्त्रोंमें भी उनके स्वरूपका वर्णन आता है; उनको 'गिरीश' और 'त्रिनेत्र' बताया गया है।

'अन्य देवताओंकी पूजा मूर्तिमें ही होती है, अन्य प्रकारसे नहीं होती'—ऐसी बात भी नहीं है।

सुपारीको या गोबरके लड्डूको अथवा गुड़के टुकड़ेको गणेशजी मानकर उनकी पूजा की जाती है। गण्डकी नदीसे प्राप्त हुए गोल-मटोल पत्थरको या लंबे आकारके किसी सुन्दर काले पत्थरको शालग्राम मानकर पूजा की जाती है। किसी भी शिलाखण्डको भैरव आदि देवताओंका स्वरूप मानकर श्रद्धालु लोग पूजा करते देखे जाते हैं। चावलोंकी छोटी-छोटी ढेरियोंको नवग्रह मानकर उनकी पूजा की जाती है। कुशाके सप्त ऋषि बनाकर उनकी पूजा की जाती है। इस प्रकार अनेकों ढंगसे देवताओंका प्रतीक बनाकर पूजा की जाती है। अतः इसमें संदेहके लिये कोई स्थान नहीं है। देवता उस प्रतीकमें नहीं, किंतु पूजा करनेवालेकी भावनामें है। इसी प्रकार कागज और स्याहीयुक्त पुस्तकको 'वेद' कहते हैं और उससे काम भी चल जाता है—वास्तवमें न तो कागज वेद है, न स्याही; 'वेद' नाम तो ईश्वरीय ज्ञानका है, जिसका कोई आकार नहीं है। पर उसे समझने और समझानेके लिये उसकी मूर्तिकी कल्पना करनी ही पड़ती है; इसी प्रकार ईश्वरोपासनाके लिये उसकी—विभिन्न प्रतीकोंकी कल्पना सार्थक है।

(२)

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र इसके पूर्व भी मिला था और उसका उत्तर भी विस्तारपूर्वक दे दिया था। आपको मिल गया होगा।

अपने जीवनका परिचय लिखा, सो ठीक है। साधनके लिये जिन-जिन बातोंकी आवश्यकता है, उनमें बहुत-सी आपको भगवान्‌की कृपासे अनायास ही प्राप्त हैं।

आपने पूछा कि 'गृहस्थाश्रममें रहते हुए भोगवासनाका परित्याग किस प्रकार किया जाय?' इसके उत्तरमें लिखना है कि 'भोग-वासनाका परित्याग करनेके लिये किसी भी आश्रमके कारण सुगमता या कठिनाई नहीं है। संन्यास-आश्रम ग्रहण कर लेना भोग-वासनाका त्याग नहीं है।'

जबतक मनुष्य शरीरको ही अपना स्वरूप और उससे सम्बन्धित प्राणि-पदार्थोंको अपना मानता रहता है, तबतक भोग-वासनाओंका अन्त नहीं होता। इन सबको भगवान्‌के अर्पण करके जब इनमें अहंता और ममताका सर्वथा त्याग कर देता है और यह समझता है कि मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदिका समूह यह शरीर भगवान्‌का दिया हुआ है, इसमें मेरा कुछ नहीं है; इसी प्रकार इससे सम्बन्ध रखनेवाले प्राणी और पदार्थ भी उसीके हैं, इनको उसीकी प्रसन्नताके लिये उसके विधानानुसार उसकी सेवामें लगा देना है; एवं उसीकी प्रसन्नतामें प्रसन्न रहते हुए उसकी मर्जीमें अपनी मर्जी मिला देना है, अपने सुख-भोगके लिये कुछ नहीं करना है; खाना-पीना, सोना, हँसना-रोना आदि जो कुछ भी करना है, एक ऐक्टर (अभिनेता) की भाँति उस प्रभुकी प्रसन्नताके लिये ही करना है, तभी भोग-वासनाओंका अन्त होता है।

(३)

सादर हरिस्मरण ।

आपका पत्र मिला । आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

आपने संध्या-वन्दन-कार्य अबतक आरम्भ नहीं किया है, यह तो गलती हुई । अब उसे तत्काल आरम्भ कर दीजिये; देर करके उस गलतीको और मत बढ़ाइये । पुनः उपनयन-संस्कार न करा सकें तो कोई बात नहीं, अब नित्यकर्म आरम्भ कर दीजिये । कलियुगमें ऐसी गलतियाँ क्षम्य हैं ।

(२) आपने अपने बाल छँटवा दिये, शिखा नहीं रक्खी, उसके लिये भी अब आप दुःख न कीजिये । इस पत्रके मिलते ही शिखा-स्थानके केश—बाल जितने भी बड़े हैं, उनको सुरक्षित रखकर अन्य केशोंको छोटे करवा लीजिये । शिखाके केश धीरे-धीरे बढ़ते रहेंगे, शिखाचिह्न सुरक्षित रहेगा और वे केश ही शिखा मान लिये जायँगे । द्विजोचित कर्म करनेका अधिकार तो आपको विचार बदलनेके साथ ही प्राप्त हो गया, इस प्रकार मानना चाहिये और तत्काल नित्यकर्म आरम्भ कर देना चाहिये।

(३) अविवाहित व्यक्ति ब्रह्मचर्याश्रममें एक ही यज्ञोपवीत रक्खे, ऐसा विधान है; पर जोड़ा रखनेमें भी कोई अपराध नहीं है । अतः धारण करनेके बाद निकालनेकी जरूरत नहीं है, जोड़ा ही पहने रहना चाहिये ।

(४) आसनोंका साधन किसी जानकार पुरुषसे उसके सामने सीखना चाहिये; पत्रसे पूरी बात नहीं समझायी जा सकती । साधारण मनुष्योंके लिये स्वस्तिक आसन ही अच्छा रहता है । 'योगदर्शन'में तो आसनके विषयमें स्पष्ट लिखा है कि "सुखपूर्वक स्थिर बैठना ही 'आसन' है ।" गीतामें उसका विधान करते समय लिखा है कि 'शरीर, गला और सिर—ये तीनों सीधे, सम और स्थिर रहने चाहिये । हाथ-पैरोंको साधक अपनी सुविधाके अनुसार रख सकता है ।'

कुशाका आसन बिछाकर उसके ऊपर नरम वस्त्र बिछा ले, जो कि ऊनका हो । या उसे प्रतिदिन धोया जा सके तो रूईके सूतका भी चल सकता है । कुशासनके ऊपर उसे भी बिछाना अच्छा है, नहीं तो कुशा चुभनेसे उधर बार-बार मन जायगा और साधनमें विघ्न पड़ेगा ।

आसनपर बैठकर आसनशुद्धिका मन्त्र बोलकर जलके छींटोंसे आसनको पवित्र करना ठीक रहेगा ।

(५) पवित्री केवल एक अनामिका अँगुलीमें ही पहननी चाहिये । जो अँगुली अङ्गुष्ठकी ओरसे चौथी और कनिष्ठिकाकी ओरसे दूसरी है, अर्थात् छोटी अँगुलीके पासवाली अँगुलीको ही 'अनामिका' कहा जाता है । बायें हाथकी पवित्री कुशाके तीन तिनकोंसे तथा दाहिने हाथकी पवित्री दो तिनकोंसे बनी हुई होनी चाहिये । दो या तीन अँगुलियोंमें धारण करनेकी बात नहीं है । पवित्रीके बदले अँगूठी पहननेकी प्रथा तो है, पर कुशाकी पवित्री ही श्रेष्ठ मानी गयी है ।

(६) श्रुति अर्थात् वेदमें जिन कर्मोंके करनेका विधि-विधान है, उनको 'श्रौत' कहते हैं । यज्ञादिकी गणना उन्हींमें है तथा स्मृति, गृह्यसूत्र आदिमें जिनका विधान है, उनको 'स्मार्त' कहते हैं । षोडश संस्कार, नित्यकर्म संध्यावन्दन आदिकी गणना स्मार्त कर्मोंमें है ।

आचमन ताँबेकी आचमनीसे करनेकी अपेक्षा ब्राह्मतीर्थसे करना ही उत्तम है । हथेलीके निम्नभागको ही 'ब्राह्मतीर्थ' कहा गया है ।

(७) शास्त्रीय कर्मकाण्डमें बायें हाथका उपयोग दोनों हाथ मिलाकर किये जानेवाले कर्ममें है, जैसे अर्घ्य-प्रदान करना, स्तुति-प्रार्थना करना आदि ।

आपके प्रश्नोंका उत्तर, मेरी मान्यताके अनुसार जैसा उचित मालूम हुआ, लिख दिया है; वास्तवमें मैं न तो कोई पण्डित हूँ और न व्यवस्था देनेका मेरा अधिकार ही है । मैंने तो अपनी सम्मतिमात्र लिख दी है ।

सत्सङ्ग-वाटिकाके बिखरे सुमन

(नित्यलीलालीन श्रीभाईजीके पुराने सत्सङ्गसे चयन किये हुए)

१—'प्रेम'का अर्थ है—भगवत्प्रेम। 'प्रेम'के नामपर जगत्में 'काम' चलता है। वह हमारी चर्चाका विषय नहीं है। भगवत्प्रेमकी प्राप्ति सहजमें नहीं होती। बहुत ऊँची साधनाकी सिद्धिके पश्चात् भगवत्प्रेमकी प्राप्ति होती है।

२—भगवत्प्रेम क्या है—यह कोई बता नहीं सकता। कहनेके लिये कुछ सांकेतिकरूपसे समझनेके लिये कह सकते हैं—यह भगवान्‌की अपनेमें ही अपने-से ही अपनी लीला है।

३—भगवान्‌के साथ खेले—ऐसा भगवान्‌का साथी कौन है? भगवान् जिस खेलको खेलें, ऐसा खेल कौन-सा है? वास्तवमें उनके योग्य न कोई साथी है न कोई खेल है। अतएव भगवान् ही प्रेमास्पद हैं, भगवान् ही प्रेमी हैं और भगवान् ही प्रेम हैं।

४—स्वयं ही प्रेमी और प्रेमास्पद बनकर—एक-दूसरेकी प्रीतिके आश्रयालम्बन और विषयालम्बन बनकर जो भगवान्‌की परम दिव्य अचिन्त्यानन्त गौरवमयी पवित्रतम लीला चलती है—वास्तवमें इसे ही भगवत्प्रेम कहते हैं। इस प्रेममें ऐसा माना जाता है और यह परम सत्य है कि भगवान् ही स्वयं अपने आनन्द-स्वरूपको—अपने भावस्वरूपको लेकर अनन्त लीलारूप धारण किये रहते हैं।

५—भगवान् श्रीकृष्ण ही 'राधा'स्वरूपमें लीला करते हैं। अतएव श्रीराधा भगवान्‌से सर्वथा अभिन्न हैं। श्रीराधाके बिना श्रीकृष्णका और श्रीकृष्णके बिना श्रीराधाका अस्तित्व नहीं। दोनोंका अविनाभाव-सम्बन्ध है। रसराज महाभावके प्रेमके विषय बनते हैं और महाभाव रसराजके प्रेमका विषय बनता है। इस प्रकार परस्पर बड़ी पवित्र लीला चलती है।

६—श्रीराधा महाभावरूपा हैं और श्रीराधाके आराध्य, प्रेमास्पद, परमप्रेष्ठ हैं—रसराज श्रीकृष्ण।

७—श्रीराधाके भावोंका, श्रीराधाके अचिन्त्यानन्त भाव-समुद्रकी परम विभिन्न परमानन्दमयी तरंगोंका न तो कोई वर्णन कर सकता है, न गणना और न इनके स्वरूपका विश्लेषण। अनादिकालसे अनन्तकालतक प्रेमकी विशुद्ध परमाह्लादमयी तरंगें—रसमयी मधुर तरंगें उठती रहती हैं और बड़े-बड़े प्रेमी भक्त, बड़े-बड़े भाग्य-शाली ऋषि-मुनि और कोई-कोई देवता ही उन रस-मधुर-तरंगोंके दर्शन कर पाते हैं, आस्वादन तो बहुत दूर।

८—श्रीराधाके प्रेमकी विभिन्न तरंगोंका वर्णन नहीं हो सकता—केवल शाखाचन्द्रन्यायसे संकेतमात्र होता है। जैसे किसीको द्वितीयाका चन्द्रमा दिखलाना है तो यह कहा जाता है कि 'देखिये, सामने उस डालसे इतना ऊपर चन्द्रमा दिखायी दे रहा है।' डालसे उतना ऊपर चन्द्रमा नहीं है, पर डालका संकेत करके चन्द्रमाको दिखानेकी प्रक्रिया होती है। इसी प्रकार श्रीराधाके गुणोंका, भावोंका संकेतमात्र किया जाता है, वर्णन नहीं। वर्णन तो असम्भव है।

९—जगत्में धनविषयक मान्यता पृथक्-पृथक् है—किसीका धन विद्या है, किसीका धन बुद्धि है, किसीका धन विषय हैं, किसीका सम्पत्ति, किसीका धन सोना, किसीका धन पारलौकिक सुख। पर सर्वस्व-समर्पणमयी श्रीराधाके जीवनका धन क्या है—श्रीकृष्ण।

१०—जहाँ प्रेमका प्रारम्भ होता है, वहाँ त्यागकी पराकाष्ठा होती है। त्याग जहाँ पूर्णताको प्राप्त हो जाता है, पहुँच जाता है, वहाँसे भगवत्प्रेमका आरम्भ होता है।

११—भगवत्प्रेमी सर्वदा, सर्वथा मुक्त होते हैं; माया-का राज्य उनके समीप नहीं जा पाता। वह तो दूरसे ही विलीन हो जाता है। जैसे पौ फटना आरम्भ होते ही अन्धकार मरने लगता है, उसी प्रकार प्रेम-सूर्यके उदयकी तो बात ही क्या, प्रेमके उषःकालमें ही मायाका अन्धकार तिरोहित हो जाता है, मिट जाता है, मर जाता है।

१२—भगवान्‌की मधुर लीलामें उनका ऐश्वर्य छिपा रहता है, क्रियाशील नहीं होता । जिन भगवान्‌के भयसे भय काँपता है, जिनके भयसे काल, यमराज आदि अपने-अपने कर्तव्यमें संलग्न हैं, वे ही श्रीकृष्ण वात्सल्यकी मूर्ति श्रीयशोदा मैयाकी डाँटसे भयभीत हो जाते हैं ।

१३—भगवान् श्रीकृष्ण अपने स्वरूप, लीला आदिसे माधुर्यका इतना प्रसार करते हैं कि सबका चित्त उनकी ओर खिंचता चलता है । उनकी आकर्षण-लीला निरन्तर चलती रहती है ।

१४—मधुर लीलामें ऐश्वर्य आता है तो वह सेवा करनेके लिये; छिपकर माधुर्यको कम करने या हटानेके लिये नहीं ।

१५—प्रेमीमें जब प्रियतम भगवान्‌से मिलनकी इच्छा जगती है, तब वह मार्गकी कठिनाइयोंकी ओर दृष्टि नहीं डालता । बस, मिलनकी त्वरामें वह चल पड़ता है । फिर चाहे वह मार्गकी गर्मीसे जलकर भस्म क्यों न हो जाय, उसकी उसे कुछ परवा नहीं । वह प्रियतमसे मिले बिना रह नहीं सकता । एक कथा आती है—भगवान् श्रीश्यामसुन्दर पहाड़पर सघन छायामें जाकर बैठ गये । पहाड़पर जानेका रास्ता पथरीला, सीधी चढ़ाई, मार्गमें एक भी पेड़ नहीं और मध्याह्नका समय । एक सखीको प्रियतमके समीप जाना है । वह पहाड़पर चढ़ने लगी । देखनेवालोंने उसे रोका—'इतनी कड़ी धूपमें पहाड़पर कैसे चढ़ोगी, झुलस जाओगी'; पर उसने किसीकी एक बात भी नहीं सुनी । तप्त पत्थरोंपर जब उसके चरण टिकते थे, तब उसे अनुभव होता कि कोई शीतल गद्दी बिछी हुई है और ऊपर कोई शीतल छाया करता चला जा रहा है । प्रत्येक चरण उसे प्रियतमके निकट अनुभव करा रहा था; बस, इसी हेतुसे उसे ऐसा सुखद अनुभव हो रहा था । यह है प्रेमकी विलक्षणता ।

१६—जहाँ दी हुई वस्तुके बदले देनेवाला कुछ स्वीकार कर लेता है, वहाँ उसे कुछ देकर उसके ऋणसे छुटकारा पाना सरल है । जहाँ देनेवाला निरन्तर देता ही है और वह इस आग्रहसे देता है कि उसकी दी हुई वस्तुको स्वीकार करना ही पड़ता है, वहाँ देनेवालेके ऋणसे मुक्त होना कभी भी सम्भव नहीं है । फिर जहाँ लेनेवाला एक हो और ऐसे देनेवाले अनेक, वहाँ तो ऋण कभी चुक ही नहीं सकता । व्रजवासियोंके सम्बन्धमें यही बात है । वहाँ सब-के-सब व्रजवासी श्रीकृष्णके लिये अपना सर्वस्व अर्पण करते रहते हैं और बदलेमें वे कुछ भी स्वीकार करनेको तैयार नहीं । ऐसी स्थितिमें भगवान् श्रीकृष्णको उन सबका नित्य ऋणी बना रहना पड़ता है ।

१७—जिनकी कृपाप्राप्तिके लिये बड़े-बड़े योगी अपने चित्तको समाहितकर उनका ध्यान करते हैं, पर फिर भी सफल नहीं हो पाते, वे ही भगवान् श्रीकृष्ण अपनी समस्त भगवत्ताको भूलकर मैयाके सामने एक छोटे बालक बने हुए बैठे रहते हैं और मैया उनके हितकी कामनामें संलग्न रहती है ।×××××जिनके स्मरणमात्रसे जगत्‌का हित होता है, उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णका हित करनेके लिये मैया यशोदा उन्हें डाँटती है, डपटती है । यह है व्रजप्रेमकी विलक्षणता !

१८—व्रजलीलामें भगवान्‌का ऐश्वर्य यदि कभी उस लीलाका दर्शन करने आता है तो वह मैयाके वात्सल्य-स्नेहकी धारामें बह जाता है और मैया आनन्दविभोर होकर भगवान्‌की लीलाओंका रस लेती रहती है । ××× नन्दरानीको अपने अप्रतिम वात्सल्यमें ऐश्वर्यकी झाँकी हो ही नहीं पाती और वे भगवान्‌की लीलाको उसी रूपमें अनुभव कर प्रेममें विभोर होती रहती हैं ।

१९—प्रेममयकी प्रेमाधीनता ही श्रीकृष्णमें अक्षमताका कारण बन कभी उन्हें पराजितरूपमें प्रकट करती है और कभी असमर्थरूपमें । ×××भक्तकी प्रसन्नतासे भगवान्‌का स्वरूपानन्द-सिन्धु उछलने लगता है । यही हेतु है कि भक्तका आनन्द-वर्धन करनेके लिये भगवान् अपनी पराजय स्वीकार करते हैं । सर्वसमर्थ होते हुए भी साधारणसे काममें भी अपनी असमर्थता प्रकट कर देते हैं ।

२०—जो कुछ है, वह भगवान् है और जगत्में जो कुछ हो रहा है, वह भगवान्की लीला है। पर जहाँ भगवान्के साथ रागात्मिका भक्तिका सम्बन्ध है, वहाँ भगवान्की लीलाएँ विभिन्नरूपमें प्रकट होती हैं। वहाँ भगवान् अपना वह रूप भी प्रकट करते हैं, जो उनकी भगवत्ताकी दृष्टिसे अग्राह्य है, त्याज्य है।

२१—प्रेमी भक्तको भगवान्की स्मृतिमें, उनके गुणोंकी चर्चामें इतना रस आता है कि वह भगवान्के मिलनको भी उसके समक्ष तुच्छ समझता है। एक कथा आती है—कुछ सखियाँ बैठी परस्पर श्रीकृष्णके प्रेमकी चर्चा कर रही थीं। इतनेमें श्रीकृष्ण वहाँ आ गये। सखियोंको लगा—विघ्न आ गया। प्रेमके प्रवाहमें उन्हें श्रीकृष्ण विघ्नस्वरूप अनुभव हुए। प्रेम-चर्चामें उन्हें इतने आनन्दकी अनुभूति हो रही है कि उसके बीचमें आनन्दके मूल श्रीकृष्णकी उपस्थिति भी उन्हें विघ्न प्रतीत होती है। परस्पर परामर्श करके उन्होंने कुछ सखियोंको तैयार किया कि वे श्रीश्यामसुन्दरको वाटिकामें नवीन विकसित पुष्पोंके सौन्दर्य-माधुर्यका आस्वादन करानेके लिये ले जायँ।

२२—प्रेमीको भगवान्के नाम-स्मरणमें अद्भुत सुखकी अनुभूति होती है। उसे निरन्तर नाम-स्मरण करते हुए भी तृप्ति नहीं होती। श्रीराधाजीने कहा है—"करोड़ जिह्वाएँ हों तो 'श्याम' नामका माधुर्य लिया जाय, एक जिह्वासे 'श्याम' नामके माधुर्यका क्या पता लगे।"

२३—भगवान्की सेवाके जो नित्य परिकर हैं, उनको नित्य आनन्द क्यों प्राप्त होता रहता है? उसमें छः हेतु हैं, तीन भगवान्में और तीन परिकरोंमें। भगवान् अभौतिक—दिव्य, अविनाशी हैं, नित्य हैं और अपने स्वरूप-सौन्दर्यमें नित्य वर्धनशील हैं। तथा परिकरोंमें नित्यवर्धनशील अभिलाषा, नित्य वर्धनशील सेवा-शक्ति तथा नित्य सुखकी अभिवृद्धि है। इन हेतुओंसे परिकरोंको नित्य आनन्दकी प्राप्ति होती है।

२४—भगवान्के सौन्दर्य-माधुर्यका स्मरण-चिन्तन बहुत सरल एवं सुन्दर साधन है। इस चिन्तनमें भगवान्की सुन्दरता और मधुरताका कण भी, छायाकी छाया भी यदि कहीं अन्तरमें उतर आये तो वहींसे प्रेमका सूत्रपात हो जाता है—प्रेमका ऐसा स्वभाव है।

२५—भगवत्प्रेम ऐसी 'बीमारी' है कि जल्दी यह लगती नहीं और लगनेपर कभी मिटती नहीं, बढ़ती ही चली जाती है। पर यह सब जानते हुए भी प्रेमी लोग चाहते हैं कि यह 'बीमारी' बनी रहे और यह घाव कभी सूखे नहीं, सदा हरा ही रहे।

२६—जो कभी, किसी प्रकार प्रेमसमुद्रमें डूब जाता है, वही जानता है कि उसका स्वाद कैसा है तथा वह कितना मधुर लगता है।

२७—जगत्में जो सौन्दर्य-माधुर्य दिखायी पड़ता है, वह सब-का-सब नकली है। वास्तवमें जगत्में सौन्दर्य और माधुर्य हैं ही नहीं; यहाँ तो सब बीभत्स है। किसीका बड़ा सुन्दर शरीर है, हम उसे देखकर विमोहित होते हैं। पर जब उसके प्राण निकल जाते हैं—आत्मा शरीरसे विलग हो जाता है, तब रात्रिमें उसके समीप बैठनेमें डर लगता है। वही आकृति है, वही वर्ण है, वही रूप है; पर वह भीषण मालूम होता है। अच्छे-अच्छे व्यक्ति उस प्राणहीन शरीरके पास अकेले नहीं बैठना चाहते; दो-चार साथी खोजते हैं। कोई पूछे—'अबतक तुम अकेले बैठे थे, उनसे बातें कर रहे थे, अब अकेले बैठनेमें क्यों डरते हो?' तो इसका उत्तर यह है कि 'जिसके पास बैठनेमें सुखका अनुभव होता था, जिससे हम बात करते थे, वह निकल गया, चला गया।'

२८—जगत्में सौन्दर्य-माधुर्य देखना नकली पीतलको सोना मानना है, विषको अमृत समझना है। जितना भी जगत्का सौन्दर्य-माधुर्य है, वह विष है; शास्त्रकारोंने, महात्माओंने उसे विष बतलाया है—

'विषयान् विषवत् त्यजेत्।'

पढ़ो, समझो और करो

(१)

गृहस्थकी उदारता

सेठ श्रीजयदयालजी गोयन्दका गीतापर 'तत्त्वविवेचनी' नामक टीका लिख रहे थे। कुछ महीनोंके लिये मैं उनके निवास-स्थान बाँकुड़ा (पश्चिम बंगाल)में ही रह रहा था। वहाँसे आनेके समय श्रीसेठजी और उनके विद्वान् भ्राता श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दकाने मुझसे कहा—'पण्डितजी! आपके घरमें लड़कीका विवाह होनेवाला है। आप हमारी इस बर्तनकी दूकानमें घुस जाइये और आपको जितना चाहिये उतना बर्तन छाँटकर अलग कर दीजिये। हम आपके साथ भेज देंगे।' उनकी यह उदारता देखकर मेरा हृदय भर आया। बर्तन मैंने सौ, दो सौ रुपयोंकी कीमतके ही लिये, परंतु उनसे जो उन्मुक्त हृदय-उदारताकी शिक्षा ली, वह अबतक कभी-कभी याद आ जाती है। किसीको कुछ देना हो तो मुट्ठी बाँधकर नहीं दिया जाता।

—स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती 'चिन्तामणि'

(२)

मैं ऋण चुका रहा हूँ

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके पास एक व्यक्ति आया। 'मेरी बीमार पत्नी अस्पतालमें है—सहायता दीजिये।' उन्होंने सहायता दी। कुछ दिन बाद आया—'अस्पतालमें बच्चा हुआ है, सहायता दीजिये।' तब भी दी। कुछ दिन बाद आया—'हालत खराब है, कुछ और दीजिये।' तब भी दी। कुछ दिन बाद आया—'हालत खराब है, कुछ और दीजिये।' तब भी दी। पाँच-दस दिन बाद आया—'मर गयी, अन्त्येष्टि कैसे करूँ?' फिर भी दी। 'घर जानेके लिये किराया चाहिये।' फिर भी दी। किसीने पूछा—'भाईजी! यह कैसा आदमी है? कोई ठग लगता है।' श्रीभाईजीने कहा—'मुझे पहले ही दिनसे मालूम है। न पत्नी बीमार, न बच्चा, न अस्पताल, न मृत्यु। परंतु जब यह मेरे सम्मुख आकर बैठता है, तब लगता है कि इसने पूर्वजन्ममें मुझे कोई ऋण दे रक्खा था। मैं इसका ऋणी हूँ और वही चुका रहा हूँ।'

श्रीभाईजीके मनमें यह भाव ही नहीं था कि 'मैं इसका उपकार कर रहा हूँ।' ठगके प्रति दुर्भावकी तो बात ही क्या!

—स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती
'चिन्तामणि'

(३)

आज भी 'श्रवणकुमार' हैं

मैं धर्मग्रन्थोंमें और संत-महात्माओंके श्रीमुखसे माता-पिताके अनन्य भक्त श्रीश्रवणकुमारकी अपने माता-पिताके प्रति विलक्षण निष्ठा एवं भक्तिकी कथा पढ़ा और सुना करता था; किंतु पाठकोंको यह जानकर आश्चर्य एवं प्रसन्नता होगी कि इस कलिकालमें भी 'श्रवणकुमार' दृष्टिगोचर होते हैं। हमारे जगद्गुरु धर्म-प्रधान भारतवर्षका 'मातृदेवो भव', 'पितृदेवो भव'—यह आदर्श सिद्धान्त रहा है, जिसपर प्रत्येक भारत-वासीको गर्व है।

मैं आज भारतवर्षके सुप्रसिद्ध 'कल्याण' मासिक पत्र-के प्रेमी पाठक-पाठिकाओंके समक्ष एक ऐसे उज्ज्वल, चरित्रवान् किंवा इस युगके 'श्रवणकुमार'की आँखों-देखी सत्य (घटना) प्रस्तुत कर रहा हूँ, जो अनुपमेय है।

घटना अभी थोड़े ही दिन पूर्व—दि० २९ अप्रैल १९७० की है। गोरखपुरस्थित 'गीताप्रेस' (जो महान् भारतके प्राचीन धर्म-ग्रन्थोंके प्रकाशनका प्रसिद्ध

केन्द्र है) में एक ऐसे महानुभावका शुभागमन हुआ, जो अपने सिरपर रक्खी डोलीमें अपनी परम पू० वृद्धा माताजीको बिठाये हुआ था। उसने गीताप्रेसके द्वारपर डोली रक्खी और सादर अपनी वृद्धा माताजीको डोलीसे उतारा। दोनोंने 'गीताप्रेस'के गीताद्वारको हाथ जोड़कर प्रणाम किया। अकस्मात् मेरी दृष्टि इस अद्भुत घटनापर केन्द्रित हो गयी। मैंने उत्सुकतापूर्वक आगन्तुक सज्जनसे पूछा—'आप किस उद्देश्यसे यात्रा कर रहे हैं और आपका स्थान कहाँ है ?' तो उन्होंने बहुत ही नम्रतापूर्वक और मधुर वाणीमें कहा—"बाबूजी ! मैं केवट जातिका हूँ और सीतापुर मेरा निवासस्थान है। मेरी पू० वृद्धा माताजीकी हार्दिक इच्छा है कि भारतवर्षके प्रधान-प्रधान तीर्थोंकी यात्रा करूँ ? अधिक विस्तारसे क्या कहूँ, बाबूजी ! अपनी पू० वृद्धा माताजीका यह 'तीर्थयात्रा' का पवित्र संकल्प मैं इस रूपमें पूरा कर रहा हूँ।" यह पुनीत अभिलाषा और पावन दृढ़ संकल्प सुनकर मैं भावविभोर हो गया और एकाएक माता-पिताके परम-भक्त श्रवणकुमारकी कथाकी मेरे मानस-पटलपर पुनरावृत्ति होने लगी। हृदय पुलकित हो उठा और मन-ही-मन मैं इस महान् भाग्यशाली व्यक्तिके प्रति 'धन्य, धन्य' कह उठा।

दोनोंने श्रद्धापूर्वक करबद्ध हो गीताप्रेस और लीला-चित्र-मन्दिर आदि दर्शनीय स्थलोंका दर्शन किया। तत्पश्चात् वह भारतमाताका लाल अपने दुष्कर कार्यको पूर्ण करनेके लिये महान् तीर्थयात्रामें अग्रसर हुआ। वह अनुपम झाँकी आज भी मेरी आँखोंके आगे घूम रही है।

धन्य है उनका जीवन !

—भालचन्द्र शर्मा 'विशारद'

(४)

ह्वेनसांग देखते रह गये

बरसातका मौसम ! अलकनन्दा नदीकी बरसाती तरंगोंपर नाव थी और उछलती तरंगोंसे चञ्चल नावपर थे ह्वेनसांग। चञ्चलता बाहर भी थी और भीतर भी, बाहर तरंगोंकी और भीतर भावनाओंकी। बाढ़के कारण तीव्रगामिनी अलकनन्दा नदीकी उत्ताल तरंगें रह-रहकर नावसे टकरा रही थीं और डगमगाती नौकाका नाविक रह-रहकर डर रहा था, कहीं नाव डूब न जाय। भयभीत नाविकने तय किया कि बोझिल नौकाको हल्का करनेके लिये कुछ सामान नदीमें फेंक देना चाहिये, अन्यथा यह डगमगाना बंद न होगा। नाविकने ह्वेनसांगसे कुछ सामान नदीमें फेंक देनेके लिये निवेदन किया, जिससे नौका सुरक्षित गन्तव्य स्थानपर पहुँच सके।

ह्वेनसांग चिन्तातुर हो उठे। उनकी भावनाएँ भी चञ्चल हो उठीं। सामानके रूपमें उनके पास थी वह अमूल्य निधि, वे अमूल्य ग्रन्थ, जो नालन्दा विश्वविद्यालयसे मिले थे। ह्वेनसांग चीनसे भारतीय विद्याओंका अध्ययन करनेके लिये आये थे और अध्ययनोपरान्त स्वदेश लौटते हुए ह्वेनसांगको विश्वविद्यालयके आचार्यने अलभ्य ग्रन्थ एवं अमूल्य वस्त्राभूषण विदाईमें दिये थे। भेंटस्वरूप मिली हुई किसी भी वस्तुको अलग करना, अलग करके नदीमें फेंकना, इसकी कल्पनामात्रसे मर्मान्तक पीड़ा हो रही थी, पर दूसरा उपाय भी क्या था ? यदि कुछ अंश नहीं फेंका जाता है तो सर्वांशकी यहीं जल-समाधि निश्चित है।

अत्यधिक विषण्ण-हृदयसे नदीमें फेंक देनेके लिये चीनी-यात्री ह्वेनसांगने अपने हाथमें कुछ ग्रन्थोंको उठाया। हाथ काँप रहे थे, अधर सूख रहे थे और नेत्र छलक रहे थे।

जिस समय ह्वेनसांग नालन्दा विश्वविद्यालयसे विदा हुए थे, उस समय एक युवकको आचार्यने उनके साथ भेज दिया था, जिससे उनकी वापसी यात्रा निर्विघ्न

पूर्ण हो सके। वह युवक भी इसी नावमें था। उस युवकने नाविकके उस निवेदनको भी सुन लिया था और वही अब देख रहा था, ह्वेनसांगके मुखकी मलिनता-को तथा मानसके मन्थनको। तुरंत ही उस युवकने मन-ही-मन कुछ निर्णय किया और एक अचिन्त्य उल्लासके साथ तत्क्षण ह्वेनसांगके हाथोंको थामकर कहा—'आर्य! आप यह क्या कर रहे हैं? नौकाके बोझको हल्का करनेके लिये क्या इन अमूल्य ग्रन्थोंका जल-विसर्जन करेंगे आप? इस उद्देश्यके लिये तो किसी अन्य नगण्य वस्तुका भी विसर्जन किया जा सकता है।' इतना कहकर वह युवक नदीमें कूद पड़ा। ह्वेनसांग देखते रह गये, चकित भावोंसे, अवाक् मुद्रासे तथा स्तब्ध अन्तरसे कि अलकनन्दाकी उछलती-मचलती तरंगें उस युवकको बहा ले गयीं। सजल नेत्रोंसे नतमस्तक होकर ह्वेनसांगने उस युवकके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की।

युवककी आत्म-बलिसे नौकाका डगमगाना रुक गया, परंतु चीनी-यात्री ह्वेनसांगको यह भी ज्ञात हो गया कि हिंदूधर्म एवं हिंदू-संस्कृतिकी अमरताका रहस्य क्या है।

—श्रीश्याम

(५)

ईमानदारी

कुछ समय पहलेकी बात है, मैं राजकोटमें अपने मित्रके यहाँ ५-६ दिनके लिये गया था। वे अकेले थे। रोज बड़े सबेरे साढ़े चार बजे दूध देनेवाली ग्वालिन आकर दरवाजा खटखटाती और हमलोग कच्ची नींदमें जँभाई लेते हुए उठते और दूध लेकर पुनः सो जाते।

एक दिन मित्र जल्दी उठे। दूधवाली अभीतक आयी नहीं थी। उन्होंने मुझसे कहा कि 'मुझे आज एन० सी० सी० परेडमें सम्मिलित होना है, इसलिये जरा जल्दी जाना पड़ेगा; ऐसी बात है कि ग्वालिन दूध देने आये, तब तुम आलमारीमेंसे १०) निकालकर उसे दे देना। मैंने बिस्तरपर पड़े-पड़े ही चद्दरमेंसे मुँह बाहर निकालकर स्वीकृतिके रूपमें गर्दन हिला दी। जाते-जाते उन्होंने मुझे फिर कहा—'भूलना नहीं, पैसे जरूर दे देना; दूधवाली पैसे माँगेगी नहीं।' वे चले गये और मैं सो गया।

दरवाजेकी साँकल खटखटानेकी आवाज कानमें पड़ते ही मैं जँभाई लेता हुआ दूध लेनेके लिये जाने लगा। उस समय उसे पैसे देनेकी बात याद आयी। नींदमें ही मैंने पैन्टकी जेबसे नोट निकालकर दूधवाली-को दे दिया और दूध लेकर लौट आया।

प्रातःकाल ८ बज चुके थे। मैं अखबार लेकर पढ़ने बैठा। ९ बजे मेरे मित्र वापस आये। चाय पीते-पीते मेरे मित्र कहने लगे—'आपने दूधवालीको पैसे दे दिये या नहीं? उसने मुझे कल कहा था कि घरमें अनाज लाना है। दस रुपये दे दें तो ठीक। महीना पूरा होनेमें तो देर है, लेकिन रुपये दे दें तो ठीक रहे। लड़कोंको भोजन मिल जाय। इसलिये मैंने दो बार याद करके आपको कहा था।' 'मैंने १०) अपने पाससे दे दिये' प्याला नीचे रखते-रखते मैंने कहा। उन्होंने उत्तर दिया—'तुमने अपने पाससे क्यों दिये? मैंने कहा नहीं था कि आलमारीमेंसे दे देना।' 'नींदसे जगकर मैं आलमारी खोलनेकी झंझट क्यों करता?' मैंने संक्षेपमें उत्तर दिया। अभी हम बात कर ही रहे थे कि वह दूधवाली आयी और आते ही कहने लगी—'लो, तुम्हारे नब्बे रुपये।' मित्रने दूधवालीकी ओर देखते हुए कहा—'बहिन, ये नब्बे रुपये तुम किस बातके दे रही हो?' मेरी ओर उँगलीसे निर्देश करते हुए उसने कहा—'बाबू, आपके इन मित्रने सुबह दस रुपयेके बदले सौ रुपयेका नोट मुझे दिया था।'

मुझे तो कुछ पता ही न था। इसलिये मैंने कहा, 'बहन, तुम्हारी कोई भूल होगी। मैंने तुमको दस रुपयेका नोट ही दिया था।' दूधवालीने कहा—'भाई, तुमको ख्याल नहीं होगा। तुम अपना हिसाब मिलाकर देखो।'

मैंने तुरंत पैन्टकी जेब सँभाली और मेरे आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा, जब मैंने देखा कि सौ रुपयेका नोट उसमें नहीं था। मेरी जेबमें १४०) थे—दस-दसके चार नोट और एक सौका। मैंने देखा कि दस-दसके चार नोट तो थे, सौका नोट नहीं था। मैं विचारमें पड़ गया। मुझे विचारमें पड़े देखकर वह बहन बोली—'भाई, तुमने ही भूलसे मुझे दसके बदलेमें सौ रुपयेका नोट दे दिया था। तुम्हारे सिवा और किसीसे मैंने पैसा लिया ही नहीं। इसलिये ये तुम्हारे ही रुपये हैं, इन्हें ले लो।' और यह कहकर उसने मेरे हाथमें रुपये थमा दिये।

मैं विचारमें पड़ गया कि कितनी ईमानदार वह स्त्री थी। घरमें खानेके लिये पैसे नहीं थे, दूसरोंके पैसे बिना मेहनतके न लेना! कितनी उच्च भावना!

उस ईमानदार बहनकी मैंने मन-ही-मन वन्दना की।

'अखण्ड आनन्द' —श्रीजेसंग कुमार थरजिया

(६)

अधिकारी ऐसे हों

थोड़े दिनों पहले हमारे घर एक निवृत्तिप्राप्त सरकारी अधिकारी आये थे। उन्होंने अपने कार्यकालमें बहुत इंस्पेक्शन किये थे। उन्होंने अपना एक अनुभव इस प्रकार सुनाया—

उनका दल एक प्राइवेट अस्पतालका इंस्पेक्शन करने गया। साथमें एक सर्जन थे। अस्पतालके व्यवस्थापकोंने गोलमालको दबा देनेके उद्देश्यसे हमेशाकी तरह इस दलको भी खुश करनेके लिये उनके अतिथि-सत्कारकी भव्य योजना की। शराबकी भी व्यवस्था थी। परंतु यह दल दूसरी ही मिट्टीका बना था। तटस्थ-भावसे उन्होंने इंस्पेक्शन शुरू किया। दलमें स्थित सर्जनने सबसे पहले रोगियोंके एक-एक बिस्तरके पास जाकर उनकी कठिनाइयाँ सुननी प्रारम्भ कीं। सरकारी ग्रांटका उपयोग किस प्रकार किया गया है, इसकी जाँच की। अस्पतालके कर्मचारियोंकी मीटिंग करके उनकी जो कठिनाइयाँ थीं, उनके विषयमें चर्चा की और उनपर होनेवाले अन्यायोंकी जाँच की।

'सरकारी ग्रांटका दुरुपयोग किया गया है तथा अस्पतालकी व्यवस्थामें कुछ आवश्यक फेरफार तुरंत होना चाहिये'—इस प्रकारके निर्देशके साथ इंस्पेक्शन रिपोर्ट तैयार की गयी। कार्यकर्ताओंको इस बातकी गन्ध लग गयी। अतः उन्होंने गोलमालको दबा देनेके लिये दौड़-धूप शुरू कर दी। इंस्पेक्शन पार्टीपर अधिकारियोंका सब तरीकेसे दबाव शुरू हुआ, लेकिन ये लोग अपने निर्णय-पर दृढ़ रहे। सर्जनने कहा—'अधिकांश इंस्पेक्शन पार्टियाँ जो आती हैं, खाने-पीनेकी तथा अन्य प्रकारकी सुविधाओंपर किस प्रकार और कितना ध्यान रक्खा गया है, उसीके आधारपर इंस्पेक्शन रिपोर्ट तैयार करती हैं। हम इसके विरुद्ध हैं। इस प्रकार इंस्पेक्शन करनेका कोई अर्थ नहीं है। इंस्पेक्शन करनेके बाद हमारा कर्तव्य है कि जिस संस्थाका इंस्पेक्शन किया है, उस संस्थाकी कठिनाइयाँ दूर करके उसे स्वस्थ स्थितिमें लानेके लिये आवश्यक प्रयास तुरंत करे। केवल कागजोंमें रिमार्क देनेका कोई अर्थ नहीं है। वास्तवमें हमारे द्वारा किसी संस्थानका इंस्पेक्शन पूरा हुआ हम तभी मानेंगे, जब हमारे द्वारा उस संस्थाके सुधारके लिये सक्रिय कदम उठाये जायँ—इसके लिये प्रयत्न हो।'

'अखण्ड आनन्द' —गुणवंती त्रिवेदी

(७)

पात्रताकी कदर

सन् १८८७ ई०में बंगालमें एक अंग्रेज अधिकारीकी मृत्यु हुई । उसके पास बहुत तरहकी पुस्तकोंका एक विपुल संग्रह था, जिनको नीलाम करनेकी विज्ञप्ति उसने छपायी । उसके पुस्तक-संग्रहमें फ्रेंच भाषामें छपी हुई गणितशास्त्रकी एक सुन्दर पुस्तक भी थी । उस समय बंगाल हाईकोर्टमें डाक्टर रासविहारी घोषके नीचे आशुतोष मुखर्जी भी वकालत करते थे । उनको गणित-विद्याका बहुत शौक था और वे फ्रेंच भाषा भी पूर्णतया जानते थे । उनकी उस पुस्तकको खरीदनेकी बहुत इच्छा थी ।

नीलामके स्थानपर उपस्थित होकर उन्होंने देखा कि एक अंग्रेज अधिकारी नीलाम कर रहे थे । उस बीचमें एक दूसरे अंग्रेज आकर नीलाम करनेवालेके कानमें कुछ कहकर चले गये ।

थोड़ी देर बाद उस गणितशास्त्रकी पुस्तकके नीलाम-की बारी आयी । आशुतोष जो बोली लगाते उसपर एक रुपया बढ़ाकर अपनी ओरसे वह नीलाम करनेवाला कह देता । इस प्रकार आशुतोषने बढ़कर १००) तक बोली बोल दी, लेकिन साथ-साथ नीलाम करनेवाला भी एक रुपया बढ़ाता ही गया ।

आशुतोष भी आँख मूँदकर चढ़ा-चढ़ीमें बोली बढ़ाते गये और अन्तमें १५०) देनेको तैयार हो गये । नीलाम करनेवालेने १५१) बोलकर वह अत्यन्त जीर्ण पुस्तक अपने पास रख ली । उस पुस्तकके प्राप्त न होनेपर आशुतोष निराश तो हो गये, लेकिन उन्होंने यह जानना चाहा कि नीलाम करनेवाला एक रुपया किस लिये बढ़ाता गया ।

नीलाम करनेवालेसे पूछनेपर उसने कहा कि 'मुझे जो अंग्रेज साहब कानमें कह गये थे, वे हाईकोर्टके जज ओके[illegible] साहब थे और वे हुक्म दे गये थे, इसलिये यह ग्रन्थ मैंने उनके लिये रख लिया है ।'

दूसरे दिन हाईकोर्टके जजके पास वह पुस्तक १५१) के बिलसहित पहुँची तो उनके आश्चर्यका ठिकाना न रहा । उन्होंने नीलाम करनेवालेसे इसका कारण पूछा ।

नीलाम करनेवालेने खुलासा किया कि 'आशुतोष मुखर्जी नामके बंगाली युवकने १५०) तक लगाया, इसलिये मैंने एक रुपया बढ़ाकर आपके लिये किताब रख ली ।'

दूसरे दिन अदालतमें जस्टिस ओकेनलीने डाक्टर रासविहारी घोषसे पूछा कि 'आशुतोष मुखर्जी नामक किसी युवकको आप जानते हैं ?' डा० रासविहारी घोषने कहा—'हाँ जी, वह मेरे हाथके नीचे ही काम सीख रहा है ।' जज साहबने आशुतोषको अपने पास भेजनेके लिये कहा ।

डा० रासविहारी घोषका परिचय-पत्र लेकर आशुतोष मुखर्जी जस्टिस ओकेनलीके पास गये । जज साहबने परिचय-पत्र फाड़ डाला और कहा—'तुम्हारे लिये किसी परिचय-पत्रकी आवश्यकता नहीं है । यह पुस्तक ही तुम्हारा परिचय दे रही है ।' इतना कहकर उन्होंने नीलाममें खरीदी हुई पुस्तक उनके सामने रख दी ।

इसके बाद जस्टिस ओकेनली और युवक वकील आशुतोष इस प्रकार दिल खोलकर बातें करने लगे जैसे वे पुराने दोस्त हों । आशुतोष भी जजसाहब-के सद्व्यवहारसे प्रसन्न हो गये । जज साहब तो युवक आशुतोषके उच्च अध्ययन और अगाध गणितप्रेमको देखकर मुग्ध हो गये थे । जज साहबने ऐसे सुपात्रकी सुन्दर कद्र की ।

'अखण्ड आनन्द' —अरविन्दकुमार वी-व्यास

श्रीऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम, चूरू, राजस्थान

(गीताप्रेसद्वारा संचालित सांस्कृतिक शिक्षा-संस्था)

इस संस्थाकी संस्थापना लगभग ४९ वर्ष पूर्व ब्रह्मलीन श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके प्रयत्नसे हुई थी, तबसे अबतक इसका कार्य चल रहा है।

इसमें—

प्रवेश-आयु—१. आठसे ग्यारह वर्षतकके द्विज—ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य ब्रह्मचारी लिये जाते हैं।

२. सोलह वर्षकी अवस्थातक ब्रह्मचारीको आश्रममें रक्खा जाता है।

पढ़ाई—३. संस्कृत—वाराणसेय संस्कृत-विश्वविद्यालयकी प्रथमा परीक्षातक।

अंग्रेजी-मैट्रिक (राजस्थान माध्यमिक शिक्षा-परिषद्), गीता १८ अध्याय उत्तमा परीक्षातक।

वेद—रुद्री, दण्डक, कर्मकाण्ड आदि।

संध्या अनिवार्य—ब्रह्मचारियोंके लिये उपनयन-संस्कारयुक्त होकर त्रिकाल-संध्या, गायत्री-जप तथा अग्निहोत्र करना एवं नियमित व्यायाम करना अनिवार्य है।

शुल्क—(१) ब्राह्मण-क्षत्रिय ब्रह्मचारीसे ३३) और वैश्य ब्रह्मचारीसे ३५) मासिक। कमसे कम छः मासका शुल्क अग्रिम देना पड़ता है। इसमें शिक्षा, वस्त्र, औषध, भोजन, दूध आदि सबका व्यय शामिल है।

(२) प्रवेशकालमें अभिभावकोंको १००) एक सौ रुपये जमानतके रूपमें जमा करने पड़ते हैं, जो पूरी शिक्षा प्राप्त करके निकलनेपर लौटा दिये जाते हैं—किंतु विद्यार्थीको बीचमें निकालनेपर वापस नहीं किये जाते।

छः मासतक ब्रह्मचारीको अस्थायी भर्तीमें रक्खा जाता है। तदनन्तर योग्य सिद्ध होनेपर स्थायी भर्तीमें ले लिया जाता है। जो अपने सुयोग्य, स्वस्थ बालकको इस आश्रममें भर्ती कराना चाहें, वे निम्नलिखित पतेपर पत्र-व्यवहार करें। विद्यार्थी चैत्रकृष्ण १ से श्रावण शुक्ल १५ तदनुसार १३ मार्चसे ६ अगस्त १९७१ ई० तक ही भर्ती किये जायँगे।

—मन्त्री—ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम, चूरू (राजस्थान)